भाद्रपद वीर नि० सं० २४६६

सितम्बर १९४०

अनेकान्त

वर्ष ३, किरण ११

वार्षिक मूल्य ३ रु०

सम्पादक—
जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता वीर-सेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर)

संचालक—
तनसुखराय जैन
कर्नॉट सर्कस पो० बो० नं० ४८ न्यू देहली।

मुद्रक और प्रकाशक— अयोध्याप्रसाद गोयलीय

विषय-सूची

		पृष्ठ
१.	वीरसेन-स्मरण	६२१
२.	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य और अकलंक—[प्रो० जगदीशचन्द्र	६२३
३.	गो० कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति लेखपर विद्वानोंके विचार और विशेष सूचना—[सम्पादकीय	६२७
४.	सिद्धसेनके सामने सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक—[पं० परमानन्द ...	६२६
५.	गोम्मटसार कर्मकाण्डकी त्रुटि पूर्ति पर विचार—[प्रो० हीरालाल ...	६३५
६.	जैन-दर्शनमें मुक्ति-साधना—[श्रीअगरचन्द नाहटा	६४०
७.	आग्रह (कविता)—[ब्र० प्रेमसागर	६४४
८.	नृपतुंगका मत विचार—[श्री एम. गोविन्द पै	६४५
९.	शिक्षा (कविता)—[ब्र० प्रेमसागर	६५६
१०.	जैनधर्म-परिचय गीता जैसा हो—[श्री दौलतराम "मित्र"	६५७
११.	आशा (कविता)—[श्रीरघुवीरशरण	६५६
१२.	विद्यानन्द-कृत सत्यशासन परीक्षा—[श्री पं० महेन्द्रकुमार	६६०
१३.	प्रो० जगदीशचन्द्र और उनकी समीक्षा—[सम्पादकीय ...	६६६
१४.	पण्डित-प्रवर आशाधर—[श्री पं० नाथूराम प्रेमी	६६६

निवेदन

"अनेकान्त" की १२ वीं किरण प्रकाशित होने पर कृपालु ग्राहकोंका भेजा हुआ शुल्क पूरा हो जायगा। क्योंकि अनेकान्तके प्रत्येक ग्राहक प्रथम किरणसे ही बनाये जाते हैं। अतः १२ वीं किरण प्रकाशित होनेके बाद "अनेकान्त" का दिल्लीसे प्रकाशन बन्द कर दिया जायेगा। अनेकान्तके घाटेका भार ला० तनसुखरायजीने एक वर्षके लिये ही लिया था, किन्तु उन्होंने दूसरे वर्ष भी इसे निभाया। अब अन्य दानी महानुभावोंको इसके संचालनका भार लेना चाहिये।

१० वीं किरणमें रा० ब० सेठ हीरालालजीका चित्र देखकर कितनी ही संस्थाओंने उनकी ओरसे भेट स्वरूप अनेकान्त भेजनेके लिये लिखा है। किन्तु हमें खेद है कि हम उनके आदेशका पालन न कर सके। क्योंकि सेठजीकी ओरसे अनेकान्त जैनेतर संस्थाओं और जैन मन्दिरोंमें चित्र प्रकाशित होनेसे पूर्व ही भेटस्वरूप जाने लगा था।

—व्यवस्थापक

ॐ अर्हम्

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ३ | सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि०सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० बो० नं० ४८, न्यू देहली
भाद्रपद-पूर्णिमा, वीरनिर्वाण सं० २४६६, विक्रम सं० १९९७ | किरण ११

वीरसेन-स्मरण

शब्दब्रह्मेति शाब्दैर्गणधरमुनिरित्येव राद्धान्तविद्भिः,
साक्षात्सर्वज्ञ एवेत्यवहितमतिभिः सूक्ष्मवस्तुप्रणीतः (प्रवीणैः ?) ।
यो दृष्टो विश्वविद्यानिधिरिति जगति प्राप्तभट्टारकाख्यः,
स श्रीमान वीरसेनो जयति परमतध्वान्तभित्तंत्रकारः ॥

—धवला-प्रशस्ति ।

जिन्हें शाब्दिकों (वैय्याकरणों) ने 'शब्दब्रह्म' के रूपमें, सिद्धान्तशास्त्रियोंने 'गणधरमुनि' के रूपमें, सावधानमतियोंने 'साक्षात्सर्वज्ञ' के रूपमें और सूक्ष्मवस्तु-विज्ञोंने 'विश्वविद्यानिधि' के रूपमें देखा—अनुभव किया—और जो जगतमें 'भट्टारक' नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुए, वे परमताऽन्धकारको भेदने वाले शास्त्रकार-धवलादिके रचयिता—श्रीमान् वीरसेनाचार्य जयवन्त हैं—विद्वद्हृदयोंमें सब प्रकारसे अपना सिक्का जमाए हुए हैं।

प्रसिद्ध-सिद्धान्त-गभस्तिमाली, समस्तवैय्याकरणाधिराजः ।
गुणाकरस्तार्किक-चक्रवर्ती, प्रवादिसिंहो वरवीरसेनः ॥

—धवला, सहारनपुर-प्रति, पत्र ७१८

श्री वीरसेनाचार्य प्रसिद्ध सिद्धान्तों—षट्खण्डागमादिकों—को प्रकाशित करने वाले सूर्य थे, समस्त

वैय्याकरणके अधिपति थे, गुणोंकी खानि थे, तार्किकचक्रवर्ती थे, और प्रवादिरूपी गजोंके लिये सिंहसमान थे।

श्रीवीरसेन इत्यात्त-भट्टारकपृथुप्रथः। स नः पुनातु पूतात्मा वादिवृन्दारको मुनिः॥
लोकवित्वं कवित्वं च स्थितं भट्टारके द्वयं। वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि॥
सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्गुरोश्चिरम्। मन्मनः सरसि स्थेयान्मृदुपादकुशेशयम्॥
धवलां भारतीं तस्य कीर्तिं च शुचि-निर्मलाम्। धवलीकृतनिःशेषभुवनां तां नमाम्यहम्॥
—आदिपुराणे, श्रीजिनसेनाचार्यः

जो भट्टारककी बहुत बड़ी ख्यातिको प्राप्त थे वे वादिशिरोमणि और पवित्रात्मा श्रीवीरसेन मुनि हमें पवित्र करो—हमारे हृदयमें निवास कर पापोंसे हमारी रक्षा करो।

जिनकी वाणीसे वाग्मी बृहस्पतिकी वाणी भी पराजित होती थी उन भट्टारक वीरसेनमें लौकिक विज्ञता और कविता दोनों गुण थे।

सिद्धान्तागमोंके उपनिबन्धों—धवलादि ग्रन्थों—के विधाता श्री वीरसेन गुरुके कोमल चरण-कमल मेरे हृदय-सरोवरमें चिरकाल तक स्थिर रहें।

वीरसेनकी धवला भारती—धवला-टीकांकित सरस्वती अथवा विशुद्ध वाणी—और चन्द्रमाके समान निर्मल कीर्तिकी, जिसने अपने प्रकाशसे इस सारे संसारको धवलित कर दिया है, मैं वन्दना करता हूँ।

तत्र वित्रासिताशेष-प्रवादि-मद-वारणः।
वीर-सेनाग्रणीर्वीरसेनभट्टारको बभौ॥—उत्तरपुराणे, गुणभद्रः

मूलसंघान्तर्गत सेनान्वयमें वीरसेनाके अग्रणी (नेता) वीरसेन भट्टारक हुए हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण प्रवादि-रूपी मस्त हाथियोंको त्रस्त किया था।

तदन्ववाये विदुषांवरिष्ठः स्याद्वादनिष्ठः सकलागमज्ञः।
श्रीवीरसेनोऽजनि तार्किकश्रीः प्रध्वस्तरागादिसमस्तदोषः॥
यस्य वाचां प्रसादेन ह्यमेयं भुवनत्रयम्॥
आसीदष्टांगनैमित्तज्ञानरूपं विदां वरम्॥ —विक्रान्तकौरवे, हस्तिमल्लः

स्वामी समन्तभद्रके वंशमें विद्वानोंमें श्रेष्ठ श्री वीरसेनाचार्य हुए हैं, जो कि स्याद्वाद पर अपना दृढ़ निश्चय एवं आधार रखने वाले थे, तार्किकोंकी शोभा थे और रागादि सम्पूर्ण दोषोंका विध्वंस करने वाले थे। तथा जिनके वचनोंके प्रसादसे यह अमित भुवनत्रय विद्वानोंके लिये अष्टाङ्ग निमित्तज्ञानका अच्छा विषय हो गया था।

तत्वार्थाधिगमभाष्य और अकलंक

[ले०—प्रोफ़ेसर जगदीशचन्द्र जैन, एम. ए.]

मैंने "तत्वार्थाधिगमभाष्य और अकलंक" नामका एक लेख फर्वरी १९४०के "अनेकान्त" (३-४) में लिखा था। इस लेखमें यह बतलाया गया था कि तत्वार्थराजवार्तिक लिखते समय अकलंकदेवके सामने उमास्वातिका स्वोपज्ञ तत्वार्थाधिगमभाष्य मौजूद था, और उन्होंने इस भाष्यका अपने ग्रन्थमें उपयोग किया है। शायद पं० जुगलकिशोरजीको यह बात न जँची, और उन्होंने मेरे लेखके अन्तमें एक लम्बी चौड़ी टिप्पणी लगा दी। हमारी समझमें इस तरहके रिसर्च-सम्बन्धी जो विवादास्पद विषय हैं, उन पर पाठकोंको कुछ समयके लिये स्वतन्त्र रूपसे विचार करने देना चाहिये। सम्पादकको यदि कुछ लिखना ही इष्ट हो तो वह स्वतन्त्र लेखके रूपमें भी लिखा जा सकता है। साथ ही, यह आवश्यक नहीं कि लेखक सम्पादकके विचारोंसे सर्वथा सहमत ही हो। अस्तु, यह इस लेखका विषय नहीं है। हम यहाँ केवल हमारे लेख पर जो "सम्पादकीय विचारणा" नामकी टिप्पणी लगाई गई है, उसीकी समीक्षा करना चाहते हैं।

पं० जुगलकिशोरजीका कहना है कि राजवार्तिककारके सामने कोई दूसरा ही भाष्य मौजूद था, और इस भाष्यके पदोंका वाक्य-विन्यास और कथन सम्भवतः प्रस्तुत उमास्वातिके स्वोपज्ञ तत्वार्थाधिगमभाष्यके समान था। इस कथनके समर्थनमें मुख्तार साहबकी सबसे बलवती युक्ति यह है कि प्रस्तुतभाष्यमें षड्द्रव्यका कहीं भी एक बार भी उल्लेख नहीं मिलता, जब कि अकलंकने "यद्भाष्ये बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि" लिख कर किसी दूसरे ही भाष्यकी ओर संकेत किया है, जिसमें षड्द्रव्यका बहुत वार उल्लेख किया हो। इसी युक्तिके आधार पर मुख्तार साहबने मेरे दूसरे मुद्दोंको भी असंगत ठहरा दिया है—उन पर विचार करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं समझी।

लेकिन यहाँ प्रश्न हो सकता है कि वह कौनसा भाष्य था, जिसको सामने रख कर अकलंकदेवने राजवार्तिककी रचना की? पूज्यपाद अथवा समन्तभद्रके ग्रन्थोंमें तो ऐसे किसी भाष्यका उल्लेख अब तक पाया नहीं गया। 'अर्हत्प्रवचनहृदय' नामक कोई अन्य भाष्य या ग्रन्थ भी अब तक कहीं सुननेमें नहीं आया। यदि ऐसे किसी भाष्यका अस्तित्व सिद्ध हो जाय तो यह कहा जा सकता है कि अकलंकके सामने कोई दूसरा भाष्य था। मतलब यह है कि मुख्तारसाहबके प्रस्तुत तत्वार्थभाष्यके अकलंकके समक्ष न होनेमें जो प्रमाण हैं वे केवल इस तर्क पर अवलम्बित हैं कि इसी तरहके वाक्य-विन्यास और कथनवाला कोई दूसरा भाष्य रहा होगा, जो आजकल अनुपलब्ध है। लेकिन यह तर्क सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जासकता।

हम यहाँ यह बताना चाहते हैं कि राजवार्तिक-

में उल्लिखित भाष्य श्वेताम्बर सम्प्रदाय-द्वारा मान्य प्रस्तुत उमास्वातिके स्वोपज्ञभाष्यको छोड़कर अन्य कोई भाष्य नहीं। तथा इसमें षड्द्रव्यका उल्लेख भी मिलता है।

श्वेताम्बर आगमोंमें कालद्रव्य-सम्बन्धी दो मान्यताओंका कथन आता है। भगवतीसूत्रमें द्रव्योंके विषयमें प्रश्न होनेपर कहा गया है— "**कइ णं भंते! दव्वा पन्नत्ता! गोयमा! छ दव्वा पन्नत्ता। तं जहा—धम्मत्थिकाए०जाव अद्धा समये**"—अर्थात द्रव्य छह हैं, धर्मास्तिकायसे लेकर कालद्रव्य तक। आगे चलकर कालद्रव्यके सम्बन्धमें प्रश्न होने पर कहा गया है—"**किमियं भंते कालो त्ति पवुच्चइ? गोयमा जीवा चेव अजीवा चेव**"अर्थात् कालद्रव्य कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं। जीव और अजीव ये दो ही मुख्य द्रव्य हैं। काल इनकी पर्यायमात्र है। यही मतभेद उमास्वातिने "**कालश्चेत्येके**" सूत्र में व्यक्त किया है। इसका यह मतलब नहीं उमास्वाति कालद्रव्यको नहीं मानते, उन्होंने कहीं भी कालका खण्डन नहीं किया, अथवा उसे जीव-अजीवकी पर्याय नहीं बताया।

"**कायग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वार्थमद्धासमयप्रतिषेधार्थं च**"—भाष्यकी इस पंक्तिका भी यही अर्थ है कि "**अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः**" सूत्रमें 'काय' शब्दका ग्रहण प्रदेशबहुत्व बतानेके लिये और कालद्रव्यका निषेध करनेके लिये किया गया है। क्योंकि कालद्रव्य बहुप्रदेशी होनेसे (?) कायवान् नहीं। इससे स्पष्ट है कि उमास्वाति काल को स्वीकार करते हैं, अन्यथा उसका निषेध कैसा? यहाँ प्रश्न हो सकता है कि फिर "**धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरन्ति**" इस भाष्यकी पंक्तिका क्या अर्थ है? इसका उत्तर है कि यहाँ पंचत्व कहनेसे उमास्वातिका अभिप्राय पाँच द्रव्योंसे न होकर पाँच अस्तिकायोंसे है। उमास्वाति कहना चाहते हैं कि अस्तिकायरूपसे पाँच द्रव्य हैं; काल का कथन आगे चलकर 'कालश्चेत्येके' सूत्रसे किया जायगा।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि हमारे उक्त कथनका समर्थन स्वयं अकलंककी राजवार्तिकमें किया गया है। वे लिखते हैं—"**वृत्तौ पंचत्ववचननात् षड्द्रव्योपदेशव्याघात इति चेन्न अभिप्रायापरिज्ञानात्** (वार्तिक)—**स्यान्मतं वृत्तावमुक्त (वुक्त ?)मवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरंति** (ये अक्षरशः भाष्यकी पंक्तियाँ हैं) **इति ततः षड्द्रव्याणीत्युपदेशस्य व्याघात इति। तन्न, किं कारणं? अभिप्रायापरिज्ञानात्। अयमभिप्रायो वृत्तिकरणस्य—कालश्चेति पृथग्द्रव्यलक्षणं कालस्य वक्ष्यते। तदनपेक्षादिकृतानि पंचैव द्रव्याणि इति षड्द्रव्योपदेशाविरोधः**"। अर्थात वृत्तिमें जो द्रव्यपंचत्वका उल्लेख है वह कालद्रव्य की अनपेक्षासे ही है। कालका लक्षण आगे चल कर अलग कहा जायगा।

सिद्धसेन गणिने उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगम भाष्य पर जो वृत्ति लिखी है, उसमें भी अकलंकके उक्त कथनका ही समर्थन किया गया है। सिद्धसेन लिखते हैं—"**सत्यजीवत्वे कालः कस्मान्न निर्दिष्टः इति चेत् उच्यते—स स्वैकीयमतेन द्रव्यमित्याख्यास्यते द्रव्यलक्षणप्रस्ताव एव। अमी पुनरस्तिकायाः व्याचिख्यासिताः। न च कालोऽस्तिकायः, एकसमयत्वात्**"—अर्थात् यहाँ केवल पाँच अस्तिकायोंका कथन किया गया है। अजीव होने पर भी यहाँ कालका उल्लेख इसलिये नहीं किया गया कि वह एक

समय वाला है उसका कथन 'कालश्चेत्येके' सूत्रमें किया जायगा।

स्वयं भाष्यकारने "तत्कृतः कालविभागः" सूत्र की व्याख्यामें 'कालोऽनन्तसमयः वर्तनादिलक्षण इत्युक्तम्' आदि रूपसे कालद्रव्यका उल्लेख किया है। इतना ही नहीं मुख्तारसाहबको शायद अत्यन्त आश्चर्य हो कि भाष्यकारने स्पष्ट लिखा है—"सर्वं पंचत्वं अस्तिकायावरोधात्। सर्वं षट्त्वं षड्द्रव्यावरोधात्"। वृत्तिकार सिद्धसेनने इन पंक्तियोंका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"तदेव पंचस्वभावं षट्स्वभावं षड्द्रव्यसमन्वि तत्त्वात्। तदाह—सर्वं षट्कं षड्द्रव्यावरोधात्। षड्द्रव्याणि। कथं, उच्यते—पंच धर्मादीनि कालश्चेत्येके"। इससे बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि उमास्वाति छह द्रव्योंको मानते हैं। छह द्रव्योंका स्पष्ट कथन उन्होंने भाष्यमें किया है। पांच अस्तिकायोंके प्रसंग पर कालका कथन इसीलिये नहीं किया गया कि काल कायवान नहीं। अतएव अकलंकने षड्द्रव्य वाले जिस भाष्यकी ओर संकेत किया है, वह उमास्वातिका प्रस्तुत तत्त्वार्थाधिगम भाष्य ही है। इस भाष्यका सूचन अकलंकने 'वृत्ति' शब्दसे किया है।

मुख्तार साहब लिखते हैं—"अर्हत्प्रवचन" का तात्पर्य मूल तत्त्वार्थाधिगमसूत्रसे है, तत्वार्थभाष्यसे नहीं।" अच्छा होता, यदि पं० जुगलकिशोरजी इस कथनके समर्थनमें कोई युक्ति देते। आगे चल कर आप लिखते हैं—"सिद्धसेनगणिके वाक्यमें अर्हत्प्रवचन विशेषण प्रायः तत्वार्थाधिगमसूत्रके लिये है, मात्र उसके भाष्यके लिये नहीं।" यहाँ 'प्रायः' शब्दसे आपको क्या इष्ट है, यह भी स्पष्ट नहीं होता। हम यहाँ सिद्धसेनगणिका वाक्य फिरसे उद्धृत करते हैं।

"इति श्रीमदर्हत्प्रवचने तत्वार्थाधिगमे उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये भाष्यानुसारिण्यां च टीकायां सिद्धसेनगणिविरचितायां अनगारागारिधर्मप्ररूपकः सप्तमोऽध्यायः"।

यहाँ अर्हत्प्रवचने, तत्वार्थाधिगमे और उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये—ये तीनों पद सप्तम्यन्त हैं। उमास्वातिवाचकोपज्ञ सूत्रभाष्यसे स्पष्ट है कि उमास्वातिवाचकका स्वोपज्ञ कोई भाष्य है। इसका नाम तत्वार्थाधिगम है। इसे अर्हत्प्रवचन भी कहा जाता है। स्वयं उमास्वातिने अपने भाष्यकी निम्न कारिकामें इसका समर्थन किया है—

तत्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रंथं।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य॥

आगे चलकर तो मुख्तार साहबने एक विचित्र कल्पना कर डाली है। आपका तर्क है,—क्योंकि राजवार्तिक बहुत जगह अशुद्ध छपा है, अतएव राजवार्तिकमें "उक्तं हि अर्हत्प्रवचने" पाठ भी अशुद्ध है; तथा 'अर्हत्प्रवचन' के स्थान पर 'अर्हत्प्रवचनहृदय' होना चाहिये। कहना नहीं होगा इस कल्पना का कोई आधार नहीं। यदि पं० जुगलकिशोरजी राजवार्तिककी किसी हस्तलिखित प्रतिसे उक्त पाठको मिलान करनेका कष्ट उठाते तो शायद उन्हें यह कल्पना करनेका अवसर न मिलता। मेरे पास राजवार्तिकके भाण्डारकर इन्स्टिट्यूटकी प्रतिके आधार पर लिये हुए जो पाठान्तर हैं, उनमें 'अर्हत्प्रवचन' हीं पाठ है। अभी पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री बनारससे सूचित करते हैं कि "यहाँ की लिखित राजवार्तिकमें भी वही पाठ है जो मुद्रितमें है।"

इसके अतिरिक्त कुछ ही पहिले मुख्तार साहब कह चुके हैं कि "अर्हत्प्रवचन' विशेषण मूल तत्वार्थसूत्रके लिये प्रयुक्त हुआ है" तो फिर यदि अकलंक देव "उक्तं हि अर्हत्प्रवचने 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" कह कर यह घोषित करें कि अर्हत्प्रवचनमें अर्थात् तत्वार्थसूत्रमें (स्वयं मुख्तारसाहबके ही कथनानुसार) "द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः" कहा है तो इसमें क्या आपत्ति हो सकती है ? 'अर्हत्प्रवचन' पाठको अशुद्ध बताकर उसके स्थानमें 'अर्हत्प्रवचनहृदय' पाठकी कल्पना करनेका तो यह अर्थ निकलता है कि अर्हत्प्रवचनहृदय नामका कोई सूत्र ग्रन्थ रहा होगा, तथा "द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः" यह सूत्र तत्वार्थसूत्रका न होकर उस अर्हत्प्रवचन हृदयका है जो अनुपलब्ध है।

श्वेताम्बरग्रन्थोंमें आगमोंको निर्ग्रंथ-प्रवचन अथवा अर्हत्प्रवचनके नामसे कहा गया है। स्वयं उमास्वातिने अपने तत्वार्थाधिगमभाष्यको 'अर्हद्वचनैकदेश' कहा है, जैसा ऊपर आ चुका है। अर्हत्प्रवचनहृदय अर्थात् अर्हत्प्रवचनका हृदय, एक देश अथवा सार। इस तरह भी अर्हत्प्रवचनहृदयका लक्ष्य भाष्य हो सकता है। अथवा अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय दोनों एकार्थक भी हो सकते हैं। हमारी समझसे भाष्य, वृत्ति, अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय इन सबका लक्ष्य उमास्वातिका प्रस्तुत भाष्य है। जब तक अर्हत्प्रवचनहृदय आदि किसी प्राचीन ग्रन्थका कहीं उल्लेख न मिल जाय, तब तक पं० जुगलकिशोरजी की कल्पनाओंका कोई आधार नहीं माना जा सकता।

हम अपने पहले लेखमें भाष्य, सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकके तुलनात्मक उद्धरण देकर यह बता चुके हैं कि अनेक स्थानों पर भाष्य और राजवार्तिक अक्षरशः मिलते हैं। इनमेंसे बहुतसी बातें सर्वार्थसिद्धिमें नहीं मिलती, परन्तु वे राजवार्तिकमें ज्योंकी त्यों अथवा मामूली फेरफारसे दी गई हैं।

"कायग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वार्थमद्धासमयप्रतिषेधार्थं च" भाष्यकी इस पंक्तिकी राजवार्तिकमें तीन वार्तिक बनाई गई हैं—'अभ्यन्तर कृतेवार्थःकायशब्दः';'तद्ग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वज्ञापनार्थं'; 'अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च'। कहना नहीं होगा कि वार्तिकको उक्त पंक्तियोंका साम्य सर्वार्थसिद्धिकी अपेक्षा भाष्यसे अधिक है। दूसरा उदाहरण—'नाणोः' सूत्रके भाष्यमें उमास्वातिने परमाणुका लक्षण बताते हुए लिखा है—'अनादिरमध्यो हि परमाणुः'। सर्वार्थसिद्धिकार यहां मौन हैं। परन्तु राजवार्तिकमें देखिये—आदिमध्यान्तव्यपदेशाभावादिति चेन्न विज्ञानवत् (वार्तिक) इसकी टीका लिखकर अकलंकने भाष्यके उक्त वाक्यका ही समर्थन किया है। इस तरहके बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं।

इसी तरह सूत्रोंके पाठभेद की बात है। 'बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ', 'द्रव्याणि जीवाश्च' आदि सूत्र भाष्यमें ज्योंकी त्यों मिलती हैं। उक्त विवेचन की रोशनीमें कहा जा सकता है कि अकलंकका लक्ष्य इसी भाष्यके सूत्रपाठकी ओर था।

'अल्पारम्भ परिग्रहत्वं' आदि सूत्रके विषयमें सम्भवतः कुछ मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धि हो। शायद वही पाठ मूल प्रतिमें हो और मुद्रितमें छूट गया हो। इसके अतिरिक्त यहां मुख्य प्रश्न तो एक योगीकरणका है जो भाष्यमें बराबर मिल जाता है।

राजवार्तिककी अन्तिम कारिकाओंका प्रक्षिप्त बतानेका भी कोई आधार नहीं। भाष्य और राजवार्तिकको आमने-सामने रखकर अध्ययन करनेसे स्पष्ट मालूम होता है कि दोनोंके प्रतिपाद्य विषयों में बहुत समानता है। दोनों ग्रन्थोंमें अमुक स्थल पर बहुतसी जगह बिलकुल एक जैसी चर्चा है। दोनोंमें पंक्तियोंकी पंक्तियाँ अक्षरशः मिलती हैं। समानता सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकमें भी है। परन्तु यहाँ भाष्य और राजवार्तिककी उन समानताओंसे हमारा अभिप्राय है जिनकी चर्चा तक सर्वार्थसिद्धिमें नहीं। ऐसी हालतमें प्रस्तुतभाष्यको अप्रमाणिक ठहराकर उसके समान वाक्य-विन्यास और कथन वाले किसी अनुपलब्धभाष्यकी सर्वथा निराधार और निष्प्रमाण कल्पना करनेका अर्थ हमारी समझमें नहीं आता। भाष्यकी भाषा, शैली आदि देखते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह राजवार्तिक अथवा सर्वार्थसिद्धिके ऊपरसे लेकर बादमें बनाया गया है

'गो०कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति' लेखपर विद्वानोंके विचार और विशेष सूचना

'गोम्मटसार-कर्मकाँडकी त्रुटिपूर्ति' नामका जो लेख अनेकान्तकी गत संयुक्त किरण (नं० ८-९) में प्रकाशित हुआ है और जिस पर प्रो० हीरालालजीका एक विचारात्मक लेख इसी किरणमें, अन्यत्र प्रकाशित हो रहा है, उस पर दूसरे भी कुछ विद्वानों के विचार संक्षिप्तमें आए हैं तथा आरहे हैं, जिनसे मालूम होता है कि उक्त लेख समाजमें अच्छी दिलचस्पीके साथ पढ़ा जा रहा है। उनमेंसे जो विचार इस समय मेरे सामने उपस्थित हैं उन्हें नीचे उद्धृत किया जाता है। साथ ही यह सूचना देते हुए बड़ी प्रसन्नता होती है कि उक्त लेखके लेखक पं० परमानन्दजी आज कल अपने घरकी तरफ गये हुए हैं, उधर एक भंडारको देखते हुए उन्हें कर्मकांडकी कई प्राचीन प्रतियां मिलीं हैं जो शाहजहांके राज्यकालकी लिखी हुई हैं और उनमें कर्मप्रकृतिकी वे सब गाथाएँ मिलतीहैं जिन्हें 'कर्मप्रकृति' के आधार पर 'कर्मकाण्ड' में त्रुटित बतलाया गया था। 'कर्मप्रकृति' की भी एक प्रति संवत् १५२७ की लिखी हुई मिली है, जिसकी गाथा-संख्या १६० है—अर्थात् एक गाथा अधिक है—और उस पर भी आराकी प्रतिकी तरह ग्रन्थकारका नाम 'नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती' लिखा हुआ है। 'कर्मप्रकृति' 'कर्मकाण्ड' का ही प्रारम्भिक अंश है। यह सब हाल उनके आज ही (२३ सितम्बरको) प्राप्त हुए पत्रसे ज्ञात हुआ है। वे जल्दी ही आकर इस विषय पर एक विस्तृत लेख लिखेंगे, जिसमें प्रोफेसर हीरालालजीके उक्त लेखका उत्तर भी होगा अतः पाठकोंको उसके लिये १२ वीं किरणकी प्रतीक्षा करनी चाहिये। विद्वानोंके विचार इस प्रकार हैं:—

१ न्यायाचार्य पं० महेंद्रकुमारजी जैन, शास्त्री, काशी—

"आपका लेख 'अनेकान्त' में देखा। आपका परिश्रम प्रशंसनीय है। यदि यह प्रयत्न सोलह आने ठीक रहा और कर्मकाण्डकी किसी प्राचीन प्रतिमें भी ये गाथाएँ मिल गईं तब कर्मकाण्डका अधूरापन सचमुच दूर होजायगा।"

२ पं० कैलाशचन्दजी जैन शास्त्री, स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी—

"इसमें तो कोई शक ही नहीं कि कर्मकाण्डका प्रथम अधिकार त्रुटिपूर्ण है। किन्तु 'प्रकृति' की गाथाएँ शामिल करनेमें अभी कुछ गहरे विचारकी जरूरत है। यह जांचना चाहिये कि 'कर्मप्रकृति' क्या स्वतन्त्र ग्रन्थ है? 'कर्मकाण्ड' क्या पहलेसे ही ऐसा बनाया गया था या बादमें उसमेंसे कुछ गाथाएँ छुट गईं। 'प्रकृति' की गाथाओंमें 'जीवकाण्ड' की भी कुछ गाथाएँ सम्मिलित होनेसे अभी कोई निश्चित राय नहीं दी जा सकती। आपका परिश्रम प्रशंसनीय है।"

३ पं० रामप्रसादजी जैन शास्त्री, अध्यक्ष ऐ० प० सरस्वती भवन, बम्बई—

"आपका लेख 'कर्मप्रकृति'से 'कर्मकाण्ड' की त्रुटिपूर्तिका मुझे बहुत पसन्द आया है, उसके लिये धन्यवाद है।"

४ पं० के० भुजबली जैन शास्त्री अध्यक्ष जैनसिद्धान्त-भवन, आरा—

"गोम्मटसार-सम्बन्धी आपका लेख महत्व-पूर्ण है।"

५ प्रोफेसर ए० एन उपाध्याय, एम. ए., डी० लिट०, कोल्हापुर—

" Yes, the additional verses of Karm Kanda brought to light in Anekant are interesting. If we can collate some more Mss, we might come to more reliable text of Gommatasara."

'—हाँ, कर्मकाण्डकी जो अतिरिक्त गाथाएँ अनेकान्त द्वारा प्रकाशमें लाई गई हैं वे चित्ताकर्षक हैं। यदि हम कुछ और हस्त लिखित प्रतियोंका समवलोकन-संपरीक्षण करें तो हम गोम्मटसारका अधिक विश्वसनीय मूल पाठ प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकेंगे।'

—सम्पादक

सिद्धसेनके सामने सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक

[लेखक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री]

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें सिद्धसेन गणी नामक एक प्रधान आचार्य हो गये हैं, जिनकी उक्त सम्प्रदायमें 'गंधहस्ती' नामसे भी प्रसिद्धि है, जो कि असाधारण विद्वत्ताका द्योतक एक बहुत ही गौरवपूर्ण पद है । आप आगम-साहित्यके विशेष विद्वान थे और इतर दर्शनादि विषयोंमें भी अच्छा पाण्डित्य रखते थे। आपकी कृतिरूपसे इस समय एक ही ग्रंथ उपलब्ध है और वह है उमास्वातिके तत्त्वार्थ सूत्रकी बृहद्वृत्ति, जो उमास्वातिके 'स्वोपज्ञ' कहे जाने वाले भाष्यको साथमें लेकर लिखी गई है और इसीसे उसे 'भाष्यानुसारिणी' विशेषण दिया गया है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में इसीको 'गंधहस्तिमहाभाष्य' कहा जाता है। इसका प्रमाण प्रायः अठारह हजार श्लोक-जितना है। यह वृत्ति दो खण्डोंमें प्रकाशित भी हो चुकी है, और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें तत्त्वार्थसूत्र पर बनी हुई अन्य सब वृत्तियोंमें प्रधान मानी जाती है। इतना सब कुछ होनेपर भी इस वृत्तिमें वह रचना-सौन्दर्य, विषयकी स्पष्टता और वस्तुओंके जँचे-तुले लक्षणोंके साथ अर्थका पृथक्करण एवं गाम्भीर्य उपलब्ध नहीं होता जो कि दिगम्बर सम्प्रदायकी पूज्यपाद-विरचित 'सर्वार्थसिद्धि' टीका और भट्टाकलंकदेव विरचित 'राजवार्तिक' नामक भाष्यमें पाया जाता है। इस बातको श्वेताम्बरीय प्रमुख विद्वान् प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी भी स्वीकार करते हैं। आपने हालमें प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्रकी अपनी हिंदी टीकाकी 'परिचय' नामक प्रस्तावनामें लिखा है कि:—

"सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकके साथ सिद्धसेनीय वृत्तिकी तुलना करनेसे इतना तो स्पष्ट जान पड़ता है कि जो भाषाका प्रासाद, रचनाकी विशदता और अर्थका पृथक्करण सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकमें है वह सिद्धसेनीय वृत्तिमें नहीं।"

सिद्धसेन गणी हरिभद्रसे कुछ समय बाद हुए हैं। हरिभद्रका समय विक्रमकी ८वीं ९वीं शताब्दी निश्चित किया गया है। इससे सिद्धसेन गणीका समय प्रायः नवमी शताब्दी होता है। सर्वार्थसिद्धि की रचना विक्रमकी छठी शताब्दीके पूर्वार्द्धकी है, यह निर्विवाद है। और राजवार्तिककी रचना प्रायः विक्रमकी सातवीं शताब्दीकी मानी जाती है। ऐसी हालतमें यह ख़याल स्वभावसे ही उत्पन्न होता है कि जब सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक जैसी अतिविशद और प्रौढ टीकाएँ पहलेसे मौजूद थीं, तब सिद्धसेन गणी जैसे विद्वान्‌की टीका उनसे कहीं अधिक विशद, प्रौढ़ एवं विषयको स्पष्ट करने वाली होनी चाहिये थी। मालूम होता है यह ख़याल पं० सुखलालजीके हृदयमें भी उत्पन्न हुआ है। और इस परसे उन्होंने अपनी तत्त्वार्थसूत्रकी उक्त

प्रस्तावनामें निम्न तीन कल्पनाएँ की हैं:—

(१) "सर्वार्थसिद्धिकी रचना पूर्वकालीन होने से सिद्धसेनके समयमें वह निश्चय रूपसे विद्यमान थी, यह ठीक है; परन्तु दूरवर्ती देश-भेद होनेके कारण या किसी दूसरे कारणवश सिद्धसेन को सर्वार्थसिद्धि देखनेका अवसर मिला नहीं जान पड़ता।"

(२) "राजवार्तिक और श्लोकवार्तिककी रचनाके पहले ही सिद्धसेनीय वृत्तिका रचा जाना बहुत सम्भव है; कदाचित् उनसे पहले यह न रची गई हो तो भी इसकी रचनाके बीचमें इतना तो कमसे कम अन्तर है ही कि सिद्धसेनको राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकका परिचय मिलनेका प्रसंग ही नहीं आया।"

(३) "इसके (सिद्धसेनीय वृत्तिमें सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकके समान जो भाषाका प्रासाद, रचनाकी विशदता और अर्थका पृथक्करण नहीं पाया जाता उसके) दो कारण हैं। एक तो ग्रंथकार का प्रकृतिभेद और दूसरा कारण पराश्रित रचना है।"

इन तीनों कल्पनाओंमें से प्रथमकी दो कल्पनाओंमें कुछ भी सार मालूम नहीं होता; क्योंकि अकलंकदेव सुनिश्चितरूपसे सिद्धसेन गणीके पूर्ववर्ती हुए हैं। सिद्धसेन गणीने उनके 'सिद्धिविनिश्चय' ग्रन्थका अपनी इस वृत्तिमें स्पष्टरूपसे निम्न शब्दोंमें उल्लेख किया है:—

"एवं कार्यकारणसम्बन्धः समवायपरिणामनिमित्तनिर्वर्तकादिरूपः सिद्धिविनिश्चय-सृष्टिपरीक्षातो योजनीयो विशेषार्थिना दूषणद्वारेणेति।"

—भाष्यवृत्ति १,वृ३, पृ० ३७

इस वाक्यमें "सिद्धिविनिश्चयके जिस सृष्टि-परीक्षा-प्रकरणके विशेष वर्णनको देखनेके लिये प्रेरणा की गई है वह प्रकरण सिद्धिविनिश्चयके 'आगम' नामक सातवें प्रस्तावमें बहुत विस्तारके साथ वर्णित है। जब सुदूर देश दक्षिणमें निर्मित हुआ 'सिद्धिविनिश्चय' ग्रंथ सिद्धसेन तक पहुँच गया, इतना ही नहीं बल्कि वह इतना प्रचार पा गया था कि उस परसे शेष विषयको देखने तककी योजना कर लेनेकी प्रेरणा कीगई है, तब राजवार्तिक जैसे अधिक जनतोपयोगी ग्रंथका सिद्धसेन तक न पहुँचना कैसे अनुमानित किया जा सकता है? ख़ास कर ऐसी हालतमें जब कि वह तत्त्वार्थ-सूत्रका भाष्य लिखने बैठें, और उसी तत्त्वार्थसूत्र पर रचे हुये उन अकलंकदेवके भाष्यको प्राप्त करके देखनेका प्रयत्न न करें,जिनके असाधारण पाण्डित्य एवं रचना-कौशलसे वे सिद्धिविनिश्चय-द्वारा परिचित हो चुके हों।

सर्वार्थसिद्धिकी रचना तो राजवार्तिकसे एक शताब्दीसे भी अधिक वर्ष पहले हुई है और सिद्धसेनके समयमें उसका उत्तर-भारतमें काफ़ी प्रचार हो चुका था, सिद्धसेनको उसके देखनेका प्रसंग ही नहीं आया ऐसा कहना युक्ति-संगत मालूम नहीं होता। आगे इस लेखमें स्पष्ट किया जायगा कि सिद्धसेन गणीके सामने भाष्य लिखते समय उक्त दोनों दिगम्बरीय टीकाएँ मौजूद थीं, और उन्होंने अपने भाष्यमें उनका यथोचित उपयोग किया है।

अब रही तीसरी कल्पना,उसमें जिन दो कारणों का वर्णन किया गया है उनमें से ग्रंथकारके प्रकृति-भेदका कुछ आभास पं०सुखलालजीके इन शब्दोंमें

मिलता है—"सिद्धसेन सैद्धान्तिक थे और आगम-शास्त्रोंका विशाल ज्ञान धारण करनेके अतिरिक्त वे आगमविरुद्ध मालूम पड़ने वाली चाहे जैसी तर्क-सिद्ध बातोंका भी बहुत ही आवेशपूर्वक खंडन करते थे।" और पराश्रित रचनाका अभिप्राय भाष्यानुसार टीका लिखनेका जान पड़ता है। परन्तु भाष्यके अनुसार टीका लिखनेमें भाष्य रचनाके प्रासाद और अर्थपृथक्करण करनेमें क्या बाधक है,यह कुछ समझमें नहीं आया! सिद्धसेन-ने तो भाष्यकी वृत्ति लिखते हुए भाष्यसे अथवा भाष्यके शब्दों परसे उपलब्ध नहीं होने वाले कथन को भी खूब बढ़ाकर लिखा है, ऐसी हालतमें वह भाष्य रचनाके प्रासाद और अर्थके पृथक्करण करने में कैसे बाधक हो सकता है? फिर भी इन दोनों में से प्रकृति-भेद उसमें कुछ कारण जरूर हो सकता है। अच्छा होता यदि इसके साथमें योग्यता-भेदको और जोड़ दिया जाता; क्योंकि सब कुछ साधन-सामग्रीके सामने उपस्थित होनेपर भी तद्रूप योग्यताके न होनेसे वैसा कार्य नहीं हो सकता। परन्तु मुझे तो सिद्धसेनीय वृत्तिके सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन करने पर इसका सबसे जबर्दस्त कारण यह प्रतीत होता है कि तत्त्वार्थाधिगम भाष्यमें कितनी ही बातें ऐसी पाई जाती हैं जो श्वेताम्बरीय आगमके विरुद्ध हैं। सिद्धसेनने अपनी वृत्ति लिखते समय इस बातका खास तौरसे ध्यान रक्खा है कि जो बातें भाष्यमें आगमके विरुद्ध पाई जाती हैं उन्हें किसी भी तरह आगमके साथ संगत बनाया जाय, और जहाँ किसी भी प्रकार अपने आगम सम्प्रदायके साथ उनका मेल ठीक नहीं बैठ सका, वहाँ इस प्रकारके वाक्य कह कर ही संतोष धारण किया गया है कि 'वाचक तो पूर्ववित् हैं वे ऐसे (प्रमत्तगीत-जैसे) आर्षविरोधी वाक्य कैसे लिख सकते हैं? सूत्रसे अनभिज्ञ किसीने भ्रांतिसे लिख दिये हैं† अथवा किन्हीं दुर्विदग्धकोंने अमुक कथन प्रायः सर्वत्र विनष्ट कर दिया है। इसीसे भाष्य-प्रतियोंमें अमुकभिन्न कथन पाया जाता है, जो अनार्ष है। वाचक मुख्य सूत्रका—श्वे० आगम का—उल्लंघन करके कोई कथन नहीं कर सकते। ऐसा करना उनके लिये असम्भव है* इत्यादि।'

इन्हीं सब प्रकृतिभेद, योग्यताभेद और लक्ष्य-भेदको लिये हुये खींचातानी आदि कारणोंसे सिद्धसेनकी वृत्तिमें भाषाका वह प्रासाद, रचनाकी वह विशदता और अर्थका वह पृथक्करण एवं स्पष्टीकरण आदि नहीं आसका है जो सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकमें पाया जाता है। राजवार्तिक और सर्वार्थसिद्धिका सामने न होना इसमें कोई कारण नहीं है।

---

† "सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्तिस्र इति", नेदं पारमर्षप्रवचनानुसारिभाष्यं, किं तर्हि? प्रमत्तगीत-मेतत्। वाचको हि पूर्ववित् कथमेवं विधमार्षविसंवादि निबध्नीयात्? सूत्रानवबोधादुपजातभ्रान्तिना केनापि रचितमेतद्वचनकम्"।

—तत्त्वा० भाष्य० वृ० ६, ६, पृ० २०६

* "एतच्चान्तरद्वीपकभाष्यं प्रायो विनाशितं सर्वत्र कैरपि दुर्विदग्धकैर्येन षण्णवतिरन्तरद्वीपका भाष्येषु दृश्यन्ते। अनार्षं चैतदध्यवसीयते जीवाभिग-मादिषु षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपकाध्ययनात्, नापि वाचक-मुख्याः सूत्रोल्लंघनेनाभिदधत्यसम्भाव्यमानत्वात्,तस्मात् सैद्धान्तिकपाशैर्विनाशितमिदमिति"।

—भाष्य वृ० ३ १६, पृ० २६७०

अब मैं कुछ अवतरणों-द्वारा इस बातको स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक दोनों सिद्धसेनके सामने मौजूद थे और उन्होंने उनका अपनी इस भाष्य-वृत्तिमें यथेष्ट उपयोग किया है। दोनोंमें से पहले सर्वार्थसिद्धिकी और उसके बाद राजवार्तिककी ऐसी कुछ लाक्षणिकादि पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं जिनका सिद्धसेनने अपनी वृत्तिमें ज्योंके त्यों रूपसे अथवा कुछ थोड़ेसे शब्द-परिवर्तनके साथ उपयोग किया है:—

(१)

रूपादिसंस्थानपरिणामा मूर्तिः।

—सर्वार्थसिद्धि, ५, ४

मूर्तिर्हि रूपादिशब्दाभिधेया, सा च रूपादिसंस्थानपरिणामा।

—भाष्यवृत्ति, ५, ३, पृ० ३२३

अनुग्राहकसम्बन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकः।

—सर्वार्थसिद्धि, ६, ११

अनुग्राहकस्नेहादिव्यवच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकः।

—भाष्यवृत्ति, ६, १२

परवादादिनिमित्तादाविलान्तःकरणस्य तीव्रानुशयस्तापः।

—सर्वार्थसिद्धि, ६, ११

अभिमतद्रव्यवियोगादिपरिभाव्यादाविलान्तःकरणस्य तीव्रानुशयस्तापः।

—भाष्यवृत्ति, ६, १२

अनुग्रहार्दीकृतचेतसः परपीडामात्मस्थामिवकुर्वतोऽनुकम्पनमनुकम्पा।

—सर्वार्थसिद्धि, ६, १२

अनुग्रहबुद्ध्याऽऽर्द्रीकृतचेतसः परपीडामात्मसंस्थामिव कुर्वतोऽनुकम्पनमनुकम्पा।

—भाष्यवत्ति, ६, १३

रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कन्दर्पः।

—सर्वार्थसिद्धि ७, ३२

रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कन्दर्पः।

—भाष्यवृत्ति ७, २७

अनुभूतप्रीतिविशेषस्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबन्धः।

—सर्वार्थसिद्धि ७, ३७

अनुभूतप्रीतिविशेषस्मृतिसमाहरणं चेतसि सुखानुबन्धः।

—भाष्यवृत्ति ७, ३२

विशिष्टो नानाप्रकारो वा पाको विपाकः।

—सर्वार्थसिद्धि ८, २१

कर्मणां विशिष्टो नानाप्रकारो वा पाको विपाकः।

—भाष्यवृत्ति, ८, २२

यत्कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं बलादुदीर्योदयावलिं प्रवेश्य वेद्यते आम्रपनसादिवत् सा अविपाकनिर्जरा।

—सर्वार्थसिद्धि ८, २३

यत्पुनः कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं बलादुदीर्योदयावलिकामनुप्रवेश्यवेद्यते पनसतिन्दुकाम्रफलपाकवत् सा त्वविपाकजानिर्जरा।

—भाष्यवृत्ति, ८, २४

(२)

विषयानर्थनिवृत्तिं चात्माभिप्रायेणाकुर्वतः पारतन्त्र्यादूभोगनिरोधोऽकामनिर्जरा।

—राजवार्तिक, ६, १२

विषयानर्थनिवृत्तिमात्माभिप्रायेणाकुर्वतःपारतन्त्र्यादुपभोगादिरोधः अकामनिर्जरा।

—भाष्यवृत्ति, ६, १३

विरोधिद्रव्योपनिपाताभिलषितवियोगानिष्टनिष्ठुरश्रवणादिबाह्यसाधनापेक्षयादसद्वेद्योदयादुत्पद्यमानःपीडालक्षणः परिणामो दुःखमित्याख्यायते।

—राजवार्तिक, ६, ११

विरोधिद्रव्यान्तरोपनिपाताभिलषितवियोगानिष्टश्रवणादसद्वेद्योदयापन्नः पीडालक्षणः परिणाम आत्मनो दुःखमित्यर्थः।

—भाष्यवृत्ति, ६, १२

धर्मप्रणिधानात् क्रोधादिनिवृत्तिः क्षांतिः।

—राजवार्तिक, ६,१२

धर्मप्रणिधाना क्रोधनिवृत्तिर्मनोवाक्कायैः क्षांतिः।

—भाष्यवृत्ति, ६, १३

धाष्टर्य प्रायमसंबद्धबहुप्रलापित्वं मौखर्यम्।

—राजवार्तिक, ७, ३२

धाष्टर्य प्रायमसभ्यासम्बद्धबहुप्रलापित्वं मौखर्यम्।

—भाष्यवृत्ति, ७, २७

राजवार्तिककी लाक्षणिक पंक्तियोंके अतिरिक्त उसके वार्तिकोंकी अन्य व्याख्याको भी कहीं कहीं पर अपनाया गया है जिसके कुछ उदाहरण निम्न प्रकार हैं:—

आद्यो द्वेधा आदिमदनादिविकल्पात् ॥ ११ ॥ आद्यो वैस्रसिको बंधो द्विधा भिद्यते। कुतः आदिमदनादिमद्विकल्पात्। तत्रादिमान् स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तविद्युदुल्काजलधाराग्नींद्रधनुरादिविषयः। अनादिरपि वैस्रसिकबंधो धर्माधर्माकाशानामेकशः त्रैविध्यान्नव विधः।

—राजवार्तिक, ५, २४

विस्रसः स्वभावः प्रयोगनिरपेक्षो विस्रसाबन्धः, स द्विधा आदिमदनादिमद्भेदात्, तत्रादिमान् विद्युदुल्काजलधराग्नीन्द्रधनुःप्रभृतिर्विषमगुणविशेषपरिणतपरमाणुप्रभवः स्कन्ध परिणामः। अनादिरपि धर्माधर्माकाशविषयः।

—भाष्यवृत्ति ५, २४ पृ०३६०

प्रतिसेवनेति षत्वाभावः क्रियांतराभि संबंधात् ॥३॥ यथा विगताः सेवकाः, अस्माद् ग्रामाद्विसेवको ग्राम इति षत्वं न भवति तथा प्रतिगता सेवना प्रतिसेवनेति क्रियांतराभिसंबंधात् षत्वं न भवति।

—राजवार्तिक ६, ४७

प्रतिगता सेवना प्रतिसेवना। क्रियायोगात्यये सत्युपसर्गसञ्ज्ञाभावात् षत्वाभावोऽतिसिक्तवत्।

—भाष्यवृत्ति ६,४६, पृ०२८६

इसी प्रकारके और भी बहुतसे अवतरण दिये जा सकते हैं, जिन्हें लेखवृद्धिके भयसे यहाँ छोड़ा जाता है। हाँ, एक बात और भी यहाँ प्रकट कर देने की है और वह यह कि ५वें अध्यायके 'द्व्यधिकादिगुणानां तु' सूत्रकी व्याख्या करते हुए पूज्यपाद और अकलंकने "णिद्धस्स णिद्धेण दुराधिएण" इत्यादि गाथा 'उक्तं च'रुपसे उद्धृत की है। सिद्धसेन ने भी इसी सूत्रके भाष्यकी वृत्ति लिखते हुये उक्त गाथाको उद्धृत किया है और उसे पूर्वके तीन सूत्रोंकेसाथ इस सूत्रको लेकर 'सूत्र चतुष्टयार्थक बतलाया है। परन्तु हरिभद्रने ऐसा न करके इससे पहले सूत्रकी वृत्तिमें ही उक्त गाथाको उद्धृत किया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सिद्धसेनको इस विषयमें आचार्य हरिभद्रका क्रम पसन्द नहीं रहा किन्तु दिगम्बरीय व्याख्याओंका क्रम ठीक जचा है और इसीसे उन्होंने उसका अनुकरण किया है।

ऊपरके इन सब अवतरणों तथा इसी प्रकारके दूसरे अवतरणोंमें भी ध्यान खींचने वाला जो भारी सादृश्य पाया जाता है उसे यों ही आकस्मिक

नहीं कहा जा सकता। वह स्पष्ट बतला रहा है कि एक विद्वानके सामने दूसरे विद्वानका ग्रन्थ जरूर रहा है। सर्वार्थसिद्धिकार और राजवार्तिककारके सिद्धसेनसे पूर्ववर्ती होनेकी हालतमें, जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है, यह अवश्य कहना होगा कि सिद्धसेनके सामने सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक दोनों ग्रंथ रहे हैं और उन्होंने अपनी भाष्यवृत्तिमें उनका कितना ही उपयोग तथा अनुसरण किया है। और इसलिये नाम-धाम-विहान समान विरासतके किसी ऐसे टीका ग्रंथकी कल्पना करना ‡ जिस परसे पूज्यपाद, अकलंक और सिद्धसेन तीनोंने ही अपनी अपनी टीकाओंमें उक्त प्रकारके कथनोंको अपनाया होगा उस वक्ततक कोरी कल्पना ही कल्पना कहा जायगा जब तक कि उसका कोई स्पष्ट उल्लेख न बतलाया जावे अथवा तद्विषयक किसी पुष्ट प्रमाण और अनुसन्धानको सामने न रक्खा जाय। मात्र यह कह देना कि सिद्धसेनने यदि सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकको देखा होता तो वे इनमें वर्णित श्वेताम्बर-भिन्न दिगम्बर मान्यताओंका खंडन किये बिना संतोष धारण नहीं कर सकते थे, इसके लिये कोई पर्याप्त नहीं है। दूसरे ग्रन्थोंको देखना और उनका यथावश्यकता अपने ग्रंथमें उपयोग करना एक बात है और दूसरे के किसी मन्तव्यका खंडन करना बिल्कुल दूसरी बात है। दूसरे ग्रंथोंको देखकर उनका उपयोग करने वालेके लिये यह कोई लाजिमी नहीं कि वह दूसरेके मन्तव्यका खंडन भी जरूर करे, चाहे वह कैसी ही प्रकृतिका क्यों न हो। ग्रंथ अनेक पढ़ते हैं परन्तु खण्डन कोई कोई ही किया करता है। खण्डनके लिये दूसरी भी अनेक बातों तथा सहायक सामग्रीकी आवश्यकता होती है, जिनके अभाव में अथवा अधूरेपनमें खण्डन नहीं बन सकता, और यदि खण्डन किया भी जाता है तो वह प्रायः उपहास-जनक होता है। सिद्धसेन यदि इस प्रकार के खण्डन कार्यमें अधिक पड़ते और दिगम्बरोंके साथ ज्यादा उलझते तो वे उस लक्ष्यसे दूर जा पड़ते और उसे वर्तमान रूपमें पूरा न कर पाते जो भाष्यको श्वेताम्बरीय आगमके साथ संगत बनानेका उनका रहा है। उस धुनमें वे सब कुछ भुला सकते हैं। फिर भी ऐसा नहीं है कि सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिककी मान्यताओंका कोई खण्डन उन्होंने किया ही न हो—यथावश्यक कुछ खण्डन तथा आलोचन जरूर किया है; चुनाँचे पं० सुखलालजी भी अपनी उक्त प्रस्तावनामें लिखते हैं—"सिद्धसेनीय वृत्तिमें दिगम्बरीय सूत्र पाठ-विरुद्ध कहीं कहीं समालोचना दिखाई देती है।...तथा कहीं कहीं सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में दृष्टिगोचर होने वाली व्याख्याओंका खंडन भी है।" ऐसी हालतमें पंडित सुखलालजीका उक्त कथन भी कोरी कल्पना ही कल्पना जान पड़ता है।

ऊपरके सम्पूर्ण विवेचन परसे, मैं समझता हूँ, सहृदय पाठकोंको इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहेगा कि सिद्धसेन गणीके सामने सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक दोनों ग्रंथ मौजूद थे तथा उन्होंने अपनी भाष्यवृत्तिमें इनका यथेष्ट उपयोग किया है। और इसलिये पं० सुखलालजीने इस सम्बन्ध में जो कल्पनाएँ की हैं वे समुचित नहीं हैं।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० १०-८-१९४०

‡ यह कल्पना पं० सुखलालजीने तत्त्वार्थसूत्रकी अपनी हिन्दी टीकाकी प्रस्तावनामें की है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्तिपर विचार

[ले०—प्रो० हीरालाल जैन एम.ए. एलएल. बी.]

आचार्य नेमिचन्द्रकृत कर्मकाण्डके सम्बन्धमें पं०परमानन्दजी शास्त्रीने अनेकाँत, वर्ष ३, किरण ८-९ में एक लेख लिखा है, जिसका सारांश यह है—

आचार्य नेमिचन्द्र-विरचित कर्मकाण्डके अनेक प्रकरण व संदर्भ अपने वर्तमान रूपमें 'अधूरे और लंडूरे' हैं। उन्हीं आचार्य द्वारा विरचित एक दूसरा ग्रंथ प्राप्त हुआ है। जिसका नाम 'कर्म प्रकृति' है। इस कर्मप्रकृतिकी १५९ गाथाओंमें से ८४ गाथायें कर्मकाण्डमें मौजूद ही हैं। शेष ७५ गाथाओंको भी कर्म-काण्डमें जोड़ देनेसे उसका अधूरापन दूर हो जाता है। ये ७५ गाथायें संभवतः किसी समय कर्म काण्डसे छुट गईं, अथवा जुदा पड़ गईं। अतएव जो सज्जन अब कर्मकाण्ड को फिरसे प्रकाशित कराना चाहें वे उसमें उन ७५ गाथाओंको यथास्थान शामिल करके ही प्रकाशित करें।

इस मतमें तीन बातें मुख्यतः विचारणीय ज्ञात होती हैं—

१. कर्मकाण्डमें से ७५ गाथाओंका छुट जाना या जुदा पड़ जाना कब और कैसे सम्भव हो सकता है ?

२. उन गाथाओंके न रहनेसे कर्मकाण्डके उन प्रकरणोंकी अवस्था क्या है, तथा उन गाथाओंको जोड़ने से क्या अवस्था व विशेषता उत्पन्न होती है ?

३. कर्मप्रकृति ग्रन्थ किसका बनाया हुआ है, और उसका कर्मकाण्डसे क्या सम्बन्ध है ?

१. यदि उक्त ७५ गाथायें कर्मकाण्डके रचयिताने अपने ग्रंथमें यथास्थान रखी थीं तो क्या पश्चात्के लिपिकारोंके प्रमादसे छुट गईं, या टीकाकारोंने उन्हें जान बूझ कर छोड़ दिया ? यदि लिपिकारोंके प्रमादसे वे छुट गई होतीं तो टीकाकार अवश्य उस ग़लतीको पकड़ कर उन गाथाओंको यथास्थान रख देते, और यदि वे प्रसंगके लिये अत्यन्त आवश्यक थीं तो वे जान बूझकर तो उन्हें छोड़ ही नहीं सकते थे। इस ग्रंथकी टीकाओंकी परम्परा स्वयं उसके कर्ताके जीवन कालमें ही, ग्रंथकी रचनाके साथ ही साथ प्रारम्भ हो गई थी। कर्मकाण्डकी गाथा नं० ९७२ में आचार्य स्वयं कहते हैं कि गोम्मटसूत्र (गोम्मटसार) के लिखते ही वीरमार्तण्ड राजा गोम्मटराय (चामुण्डराय) ने उसकी कर देशी (टीका) डाली थी। यथा—

गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जा कया देसी ।
सो राओ चिरकालं णामेण य वीरमत्तंडी ॥

इसके कोई तीन सौ वर्ष पश्चात् केशववर्णीने गोम्मटसार वृत्ति कनड़ीमें लिखी। फिर कर्नाटकवृत्तिके आधारसे संस्कृत टीका रची गई। इन टीकाओंमें चामुण्डरायकृत 'देशी' का आश्रय लिया जाना अनुमान किया जा सकता है। संस्कृत टीकाके निर्माणमें अनेक बहुश्रुत अनुरोधकों, सहायकों और संशोधकोंका हाथ बतलाया जाता है। साङ्ग और सहेस नामक साधुओंकी प्रार्थनासे धर्मचन्द्सूरि, अभयचन्द्र गणेश, लाला वर्णी, आदि विद्वानोंके लिये यह टीका लिखी

गई थी। त्रिविद्य-विद्या-विख्यात विशालकीर्ति सूरिने उस कृतिमें सहायता पहुँचाई और सर्व प्रथम उसका चावसे अध्ययन किया, तथा निर्ग्रंथाचार्यवर्य त्रैविद्य चक्रवर्ती अभयचन्द्रने उसका संशोधन करके प्रथम पुस्तक लिखी। यथा—

श्रित्वा कार्णाटिकीं वृत्ति वर्णिश्रीकेशवैः कृतिः (तिम्?)
कृतेयमन्यथा किंचित् विशोध्यं तद्बहुश्रतैः ॥
त्रैविद्यविद्याविख्यातविशालकीर्तिसूरिणा ।
सहायोऽस्यां कृतौ चक्रेऽधीता च प्रथमं मुदा ॥
सूरेः श्रीधर्मचन्द्रस्या भयचन्द्रगणेशनः ।
वर्णिलालादि भव्यानां कृते कर्णाटवृत्तितः ॥
रचिता चित्रकूटे श्रीपार्श्वनाथालयेऽमुना ।
साधु साङ्ग सहेसाभ्यां प्रार्थितेन मुमुक्षुणा ॥
निर्ग्रंथाचार्यवर्येण त्रैविद्यचक्रवर्तिना ।
संशोध्याभयचन्द्रेणालेखि प्रथमपुस्तकः ॥

जहां यह टीका रची गई थी वह सम्भवतः वही चित्रकूट था जहाँ सिद्धान्ततत्त्वज्ञ एलाचार्यने धवला टीकाके रचयिता वीरसेनाचार्यको सिद्धान्त पढाया था। ऐसी परिस्थितिमें यह संभव नहीं जान पड़ता कि उक्त टीकाके निर्माण कालमें व उससे पूर्व कर्म काण्डमें से उसकी आवश्यक अंग भूत कोई गाथायें छूट गई हों या जुदी पड़ गई हों।

२. कर्मकाण्डके 'अधूरे व लंडूरेपन' के पांच विशेष स्थल विद्वान् लेखकने बतलाये हैं जो प्रकृति समुत्कीर्तन नामक प्रथम अधिकारकी २२ वीं और ३१ वीं गाथाओं अर्थात् नौ गाथाओंके भीतरके हैं। इनके अतिरिक्त और भी कुछ स्थल ऐसे बतलाये गये हैं जहां कर्म प्रकृतिकी गाथाओंको समाविष्ट करनेकी आवश्यकता लेखकको प्रतीत हुई है। मैंने इस महत्वपूर्ण विषयका विचार कर्मकाण्डकी प्रतिको सामने रखकर अपने सहयोगी पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री व पं० हीरालालजी शास्त्रीके साथ किया, जिसका निष्कर्ष निम्न प्रकार पाया गया।

कर्मकाण्डकी नं० १५ की गाथामें दर्शन ज्ञान व सम्यक्त्वका स्वरूप बतलाया गया है, और उसके अनन्तर १६वीं गाथामें उन्हीं जीव गुणोंका क्रम निर्दिष्ट किया गया है। अब इन दोनों गाथाओंके बीच 'सियअत्थि' आदि सप्त भंगियोंके नाम गिनाने वाली कर्मप्रकृतिकी १६ गाथा डाल देनेसे ऐसा विषयान्तर हो जाता है जिसकी सार-ग्रंथोंमें गुंजायश नहीं। परिपूर्णताकी दृष्टिसे तो यह भी कहा जा सकता है कि नयोंके नाम गिना देने मात्रसे क्या हुआ, उनके लक्षण भी बतलाना चाहिये था पर यहाँ आचार्य न्यायका ग्रन्थ तो रच नहीं रहे। उन्होंने १५ वीं गाथामें ज्ञान और दर्शनका सप्त भंगियोंसे निर्णय कर लेने मात्रका उल्लेख कर दिया है, जो हां यथेष्ट है। वहां सप्त भंगियोंके नाम गिनवानेकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

कर्मकाण्डकी २० वीं गाथामें आठ कर्मोंका नाम निर्देश किया गया है और २१ वीं गाथामें उदाहरणों द्वारा उन आठोंका कार्य सूचित किया गया है। इन दोनों गाथाओंके बीच जीव प्रदेशों और कर्मप्रदेशोंके सम्बन्ध आदि बतलाने वाली कर्म प्रकृतिकी २२ से २६ तककी पांच गाथायें न रहनेसे विषयकी संगतिमें कोई त्रुटि तो नज़र नहीं आती, प्रत्युत उन गाथाओंके डाल देनेसे विषय साकांक्ष रह जाता है; क्योंकि कर्मप्रकृति की २६ वीं गाथा प्रकृति आदि बंधके चार प्रकारके नाम निर्देशके साथ समाप्त होती है। उस क्रमसे तो फिर आगे चारों प्रकारके बन्धोंका क्रमसे विवरण दिया जाना चाहिये था; किन्तु वहां आठ कर्मोंके कार्योंके उदाहरण दिये गये हैं। इस प्रकार वर्तमान रूपमें

कर्मकाण्डकी २० वीं और २१ वीं गाथायें सुसंगत प्रतीत होती हैं। उनके बीच उक्त पांच गाथायें डालने से उनमें व्युत्क्रम उत्पन्न होता है।

कर्मकाण्डकी आठ कर्मोंके उदाहरण देने वाली २१ वीं गाथाके पश्चात् २२ वीं गाथामें उन आठों कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंकी संख्याका क्रमिक निर्देष किया गया है जो बिल्कुल सुसंगत है। उनके बीचमें कर्म प्रकृतिकी आठ कर्मोंके स्वभाव विषयक दृष्टान्तोंको स्पष्ट करके बतलाने वाली २८ से ३५ तककी आठ गाथाओंकी कोई विशेष आवश्यकता दिखाई नहीं देती, खास कर जबकि उनके दृष्टान्त आचार्य २१ वीं गाथामें दे चुके हैं। ये आठ गाथायें २१ वीं गाथाके स्पष्टीकरणार्थ टीका रूप भले ही मान ली जावें, किन्तु सार ग्रन्थके मूलपाठ में उनकी गुंजाइश नहीं दिखाई देती।

कर्मकाण्डकी २२ वीं गाथामें उत्तर प्रकृतियोंकी क्रमिक संख्या बता देनेके पश्चात् २३ वीं गाथासे एक दम पांच निद्राओंका कार्य आरम्भ हो जाता है। यह एक विशेष स्थल है जहां पं० परमानन्दजीको कर्मकाण्ड की त्रुटि बहुत खटकी है, क्योंकि उनके मतानुसार विषयको पूरा और सुसंगत बनानेके लिये यहां उत्तर प्रकृतियोंके नाम व स्वरूपका क्रमशः वर्णन होना चाहिये था और उसीमें निद्राका यथास्थान विवरण आता तब ठीक था। इसी कमीकी ये कर्म प्रकृतिकी ३७ से ४८ तककी १२ गाथाओं द्वारा पूर्ति करते हैं। इस सम्बन्धमें कर्मकाण्डकी रचनाकी विशेषताकी ओर हमारा ध्यान जाता है, और सारे ग्रन्थको देखते हुये हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यहां तथा आगामी त्रुटि पूर्ण जंचने वाले स्थलों पर कर्ताका विचार स्वयं प्रकृतियोंके भेदोपभेदों गिनानेका नहीं था। वह सामान्य कथन या तो उनकी रचनामें आगे पीछे आचुका है, या उन्होंने उसे सामान्य जान कर छोड़ दिया है। उनका अभिप्राय केवल उन भेद-प्रभेदोंका वर्णन कर देना रहा है जिनमें उन्हें कुछ विशेषता दिखाई दी और जिनकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना उन्हें आवश्यक जंचा। ज्ञानावरण और दर्शनावरणके भेद-प्रभेदोंका ज्ञान जीव काण्डमें भी कराया जा चुका है, जहां कर्म प्रकृतिकी इन्हीं १२ गाथाओंमें से ६ गाथायें आचुकी हैं। उन सबकी यहां पुनरावृत्ति करनेकी अपेक्षा आचार्यने केवल उन स्थलों पर अपनी अंगुली रखी है जिनका ज्ञान उस सामान्य प्ररूपणासे नहीं हो सकता था। निद्रादिके लक्षण इसी प्रकारके हैं और इसलिये मात्र उन्हींका यहाँ वर्णन करना आचार्यने उचित समझा। इसमें कोई त्रुटि ख़्याल करना अनावश्यक है।

ठीक यही बात कर्मप्रकृतिकी उन दो गाथाओं और १४ गाथाओं व ४ गाथाओंके विषयमें कही जा सकती है जिनको क्रमशः कर्मकाण्डकी २५ वीं, २६ वीं और २७वीं गाथाके पश्चात् रख देनेकी तजवीज की गई है। यथार्थतः उनसे सिवाय नाम निर्देष और सामान्य स्वरूप ज्ञानके कोई नया प्रकाश नहीं मिलता। उनमेंसे सात गाथायें जीवकाण्डमें आ भी चुकी हैं। दर्शन मोहनीयमें बंध मिथ्यात्वका और उदय तथा सत्त्व तीनोंका रहता है, अतः शेष दो प्रकृतियोंका अस्तित्व कैसे हो जाता है, इस विशेषताका ज्ञान करानेके लिये कर्मकाण्डमें गाथा नं० २६ निबद्ध की गई है, तथा पाँच शरीरोंसे संयोगी भेद कैसे बन जाते हैं, इस विशेषताको बतलानेके लिये गाथा नं० २७ रखी गई है। नामकर्मकी प्रकृतियोंमें अंग और उपांगका भेद किस प्रकार हुआ इस विशेषताको दिखाने वाली गाथा नं० २८ रखी गई है। शेष भेद-प्रभेद तो सामान्य हैं, अतः जान बूझकर भी वे यहाँ

रचयिता द्वारा ही छोड़े जा सकते हैं।

कर्मकाण्डकी २६ से ३२ तककी गाथाओंमें किस संहननसे जीव किस गतिमें जाता है, इसका विवरण दिया गया है; और केवल उन्हीं बातोंको बतलाया गया है जिनके समझनेके लिये बंधादि अधिकार पर्याप्त नहीं हैं। यहाँ मनुष्यों और तिर्यंचोंके किन संहननोंका उदय होता है, इसके बतलानेकी तो आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि उदय प्रकरणकी गाथा नं० २६४ से ३०३ तककी गाथाओंमें तिर्यंचों और मनुष्योंके उदय, अनुदय और उदयव्युच्छित्तिरूप जो प्रकृतियाँ बतलाई गई हैं उसीसे किस तिर्यंचके या मनुष्यके कितने संहनन होते हैं, इसका भी पता लग जाता है। नं० २६५ से २७२ तककी गाथाओंमें जो गुणस्थानोंकी अपेक्षा उदयादिका कथन किया गया है, उससे किस गुणस्थान तक कितने संहनन होते हैं; इसका भी पता लग जाता है। क्षेत्रकी दृष्टिसे भोगभूमिके क्षेत्रोंमें पहला संहनन होता है, इसका पता ३०२ और ३०३ नं० की गाथाओंसे लग जाता है और पारिशेष न्यायसे यह भी समझमें आजाता है कि कर्म भूमिमें सभी संहनन होते हैं। इसी क्षेत्र-व्यवस्थाके ऊपरसे काल-व्यवस्था भी समझमें आजाती है। अतएव कर्मप्रकृतिकी ७५ से ८२ तककी आठ व ८६ से ८६ तककी चार गाथाओंके यहाँ न रहनेसे कर्मकाण्डमें कोई त्रुटि नहीं रहती। संहननोंका उन गतियोंसे संबंध उपर्युक्त प्रकरणोंसे नहीं जाना जा सकता था, अतएव उस विशेषताको बतलाना यहाँ आवश्यक था।

एक बात और विशेष ध्यान देने योग्य है। कर्मकाण्डकी गाथा नं० ४७ में स्पष्ट कहा गया है कि देहसे लगाकर स्पर्श तक पचास कर्मप्रकृतियाँ होती हैं—

'देहादी फासंता पण्णासा…'।

किन्तु कर्मप्रकृतिकी गाथा नं० ७५ में दो प्रकार की विहायोगति भी गिना दी गई हैं, जिससे वहाँ शरीरसे लगाकर स्पर्श तककी संख्या ५२ हो गई है। अब यदि इन गाथाओंको हम कर्मकाण्डमें रख देते हैं, तो गाथा नं० ४७ के वचनसे विरोध पड़ जाता है। इससे सुस्पष्ट है कि कर्मकाण्डके रचयिताकी दृष्टिमें इन गाथाओं का क्रम नहीं है टीकाकारने भी विहायोगति के दो भेदोंको छोड़ कर ही पचास भेद गिनाये हैं। अतएव इन गाथाओंको कर्मकाण्डमें रख देना उसमें पूर्वापर विरोध उत्पन्न कर देना होगा।

कर्मकाण्डकी गाथा नं० ३३ में आताप और उद्योत नामकी प्रकृतियोंके उदयका नियम बतलाया गया है जो अपनी विशेषता रखता है। शेष प्रकृतियों में ऐसी कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है। अतएव कर्म प्रकृतिकी नं० ८१ से ८५ तककी पाँच तथा ६७ से १०२ तककी छह गाथाओंके रहने न रहनेसे कोई बड़ा प्रकाश व अन्धकार नहीं उत्पन्न होता। यही बात कर्मप्रकृतिकी शेष १५३ से १५७ तककी पाँच गाथाओंके विषयमें कही जा सकती है, जिनमें केवल तीर्थंकर प्रकृतिका बंध कराने वाली षोडश भावनाओंके नाम गिनाये गये हैं और जिन्हें कर्मकाण्डकी गाथा नं० ८०८ के पश्चात् जोड़नेकी तजवीज की गई है।

प्रसंगवश यहाँ कर्मप्रकृतिकी एक गाथाके पाठ व उसके अर्थका भी स्पष्टीकरण अनुपयुक्त न होगा। गाथा नं० ८७ में 'मिच्छापुव्व दुगादिसु' के स्थान पर अर्थसौकर्म व आगेके संख्याक्रमसे सामंजस्य बैठानेके लिये 'मिच्छापुव्व-खवादिसु' ऐसा संशोधन पेश किया गया है। किन्तु इस संशोधनके बिना ही उस गाथा का अर्थ बैठ जाता है और संशोधित पाठसे भी अच्छा बैठता है वहाँ अपूर्वद्विकादिसे अपूर्वादि उपशम श्रेणी

के चार और अपूर्वादि क्षपक श्रेणीके पाँच गुणस्थानों का अभिप्राय है, जो सुसंगत बैठता है। खवादि पाठ कर लेनेसे तो विसंगति उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि अपूर्वादिको छोड़कर तो खवादि पाँच गुणस्थान हो नहीं सकते ?

३. अब हम इस विषयकी तीसरी विचारणीय बात पर ध्यान देंगे। क्या कर्मप्रकृति ग्रंथ गोम्मटसारके रचयिताका ही बनाया हुआ है ? पं० परमानन्दजीने इस विषय पर विशेष कोई प्रकाश डालनेकी कृपा नहीं की। उन्होंने उस ग्रन्थके विषयमें निश्चयात्मक रूपसे केवल यह कह दिया है कि "हालमें मुझे आचार्य नेमिचन्द्रके कर्मप्रकृति नामक एक दूसरे ग्रन्थका पता चला है"। पर उन्होंने यह नहीं बतलाया कि इस ग्रन्थके कर्तृत्वका निश्चय उन्होंने किस प्रकार, किन आधारों परसे किया है। क्या गोम्मटसारकी अधिकाँश गाथायें उसमें देखकर उसे नेमिचन्द्राचार्य रचित कहा है या उनकी देखीहुई प्रतिमें कर्ताका नाम नेमिचन्द्र दिया हुआ है ? यदि प्रतिमें कर्ताका नाम यह दिया हुआ है तो क्या वे गोम्मटसारके कर्तासे भिन्न कोई आगे पीछेके संग्रहकार नहीं हो सकते ? नेमिचन्द्र नामके और भी मुनियों व आचार्योंका उल्लेख मिलता है। यदि वह कृति गोम्मटसारके कर्ताकी ही है तो वह अब तक प्रसिद्धिमें क्यों नहीं आई ? क्या किन्हीं ग्रन्थकारों या टीकाकारोंने इस ग्रंथका कोई उल्लेख किया है ? इत्यादि अनेक प्रश्न उस कृतिके सम्बन्धमें उत्पन्न होते हैं, जिनका समाधान करना उसकी गाथाओंको कर्मकाण्डमें समाविष्ट करानेकी तजवीजसे पूर्व अत्यन्त आवश्यक था। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि वह 'कर्मप्रकृति' एक पीछे का संग्रह है, जिसमें बहु भाग गोम्मटसारसे व कुछ गाथायें अन्य इधर उधरसे लेकर विषयका सरल विद्यार्थी-उपयोगी परिचय करानेका प्रयत्न किया गया है। उसकी गोम्मटसारके अतिरिक्त गाथाओंकी रचना शैली आदिकी सूक्ष्म जाँच पड़तालसे भी सम्भव है कुछ कर्तृत्वके सम्बन्धमें सूचना मिल सके। यदि पर्याप्त छान बीनके पश्चात् वह ग्रंथ सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्रकी ही रचना सिद्ध हो तो यह मानना पड़ेगा कि उसे आचार्यने कर्मकाण्डकी रचनाके लिये प्रथम ढांचा रूप तैयार किया होगा। फिर उसकी सामान्य नाम व भेद प्रभेद आदि निर्देशक गाथाओंको छोड़ कर और उपयुक्त विषयका विस्तार करके उन्होंने कर्मकाण्डकी रचना की होगी।

इस प्रकार न तो हमें कर्मकांडमें अधूरे व लंडूरेपन का अनुभव होता है, न उसमेंसे कभी उतनी गाथाओंके छुट जाने व दूर पड़ जानेकी सम्भावना जँचती है, और न कर्मप्रकृतिके गोम्मटसारके कर्ता द्वारा ही रचित होनेके कोई पर्याप्त प्रमाण दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसी अवस्थामें उन गाथाओंके कर्मकांडमें शामिल कर देनेका प्रस्ताव हमें बड़ा साहसिक प्रतीत होता है।

जैनदर्शनमें मुक्ति-साधना

[ले० श्री अगरचन्द नाहटा,—सम्पादक "राजस्थानी"]

भारतीय समग्र दर्शनोंमें जैन दर्शनका भी महत्वपूर्ण स्थान है, तत्व ज्ञानका विचार इस दर्शनमें बड़ी ही सूक्ष्मतासे किया गया है। आचारोंमें 'अहिंसा' और विचारोंमें 'अनेकान्त' इस दर्शनकी खास विशेषता है। इस लेखमें जैनदर्शनानुसार जीव और कर्मका स्वरूप एवं सम्बन्ध बतलाकर मुक्ति और उसकी साधनाके विषयमें विचार किया जायगा।

अनादि-अनन्त संसार चक्रमें जीव और अजीव दो मुख्य पदार्थ हैं। चैतन्य-लक्षण-विशिष्ट जीव और अचेतन-जड़-स्वरूप अजीव है। जीव असंख्यात् प्रदेश वाला, शाश्वत, अरूपी पदार्थ है, उसके मुख्य दो भेद हैं 'सिद्ध' और संसारी। सिद्धावस्था जीवका शुद्ध स्वरूप है, और संसारी अवस्था कर्म-संयोग जन्य अर्थात् विकारी अवस्थाका नाम है। दृश्यमान पदार्थ सारे पुद्गल द्रव्यके नानाविधरूप हैं। जब आत्मा अपने स्वरूपसे विचलित होकर या भूलकर पुद्गल द्रव्य अर्थात् पर पदार्थोंकी ओर प्रवृत्त होता है, भ्रमसे उन्हें अपना मान लेता है या उन पर आसक्त हो जाता है, तभी आत्मामें राग भावका उदय होता है, राग-से द्वेष उत्पन्न होता है, और इन राग-द्वेषरूप विकारी भावोंसे आत्माके साथ कर्म पुद्गलोंका संयोग सम्बन्ध हो जाता है। राग-द्वेषरूप चिकनाहटके अस्तित्वमें कर्मरज आकर जीवके साथ चिपट जाती है। जहाँ राग और द्वेष नहीं है, वहाँ पर पुद्गलोंके हज़ारों रूप सन्मुख रहने पर भी कर्म-बन्धन नहीं होता। इसीलिये साधनामें समभावका महत्व सभी आस्तिक दर्शनोंने स्वीकार किया है। गीतामें समत्वके विषयमें बहुत सुन्दर विवेचन पाया जाता है। एवं कर्मफलकी आसक्तिका त्याग अर्थात् अनासक्तयोगको प्रधानता दी है। इन दोनों साधनोंके विषयमें गीता और जैन दर्शनकी महती समानता व एकता है।

जीवसे कर्मका सम्बन्ध कबसे और क्यों है? कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वह राग-द्वेष-रूप विकारी परिणामों या भावोंसे होता है; यह ऊपर कहा ही जा चुका है; पर वह स्वर्ण और मिट्टीके सम्बन्धके सदृश अनादिकालसे है, इतना होने पर भी जैसे स्वर्णको मिट्टीसे अलग किया जा सकता है, उसी प्रकार आत्मारूप स्वर्णसे कर्म-मिट्टी अलगकी जा सकती है, और इस कार्यमें जो जो बातें सहायक है उन्हें ही 'साधन' कहते हैं एवं साधनोंका व्यवहारिक उपयोग ही 'साधना' कही जाती है। साधना करने वाला ही 'साधक' कहा जाता है, और साधनाके चरम विकाश अर्थात् इष्ट फल प्राप्तिको 'सिद्धि' कहते हैं।

जीवके विकारी भावोंकी विविधता एवं तरतमताके कारण कर्म भी विविध प्रकारके होते हैं, अतः उनके फलोंमें भी विविधता होना स्वाभाविक है। इसी विविधता के कारण जीवोंमें पशु, पक्षी, मनुष्य, देव नारक भेद और उनमें भी फिर अनेक प्रकार कहे जाते हैं। कोई राजा, कोई रंक, कोई पंडित कोई मूर्ख, कोई अल्पायु कोई दीर्घायु, कोई रोगी कोई निरोगी कोई सुखी कोई दुखी इत्यादि असंख्य प्रकारकी तरतमता और विविधता नज़र आती है। वास्तवमें ये सारे खेल जीवके अपने ही

ज्ञात या अज्ञात रूपसे अर्जित कर्मोंके फल हैं। जिस प्रकार जीव कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, अर्थात् कर्म-फलका प्रदाता ईश्वर नहीं है फल तो स्वाभाविक रूपसे प्राप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार एक व्यक्ति मदिरा पान करता है तो वस्तु स्वभावके गुणसे नशेका आना स्वाभाविक है प्रत्येक भांतिके पदार्थ अपने अपने गुणोंकी अपेक्षा सत् है, कस्तूरीमें गर्मी है अतः उसे खाते ही शरीरमें गरमी अपने आप आ जाती है, जैसी वस्तु खाते हैं उसके गुण-दोष शरीरमें स्वाभाविक रूपसे अनुभूत होते हैं। देश काल, परिस्थिति, जल-वायु सारे पदार्थोंके गुण दोष स्वाभाविक रूपसे ही अनुभूत होते रहते हैं, उसी प्रकार कर्मका भी जीवके साथ जैसे रूप-स्वभावमें बंध होता है, उससे उन कर्मोंमें तदनुरूप फल प्रदानकी शक्ति उत्पन्न होती है, और जब जिस कर्मका उदय होता है, तब वह अपने स्वभावानुसार फल उत्पन्न करता है।

यह तो हुई जीव कर्मके सम्बंधकी बात, अब यह सम्बन्ध किस प्रकारसे अलग हो सकता है उस पर विचार करना है। जीवके साथ कर्मोंके सम्बन्ध होनेके जितने भी मार्ग हैं जैन दर्शनमें उन्हें 'आस्रव' तत्व कहते हैं और कर्मके आनेके मार्गोंका विरोध 'संवरतत्व' कर्मोंसे सम्बन्ध हो जाना 'बन्ध-तत्व' जिन कर्मों द्वारा जीवसे कर्म विनाश होते हैं; उसे 'निर्जरा-तत्व' और सम्पूर्ण रूपसे स्वाभाविक अवस्था प्राप्त कर लेना अर्थात् कर्मोंसे मुक्ति हो जाना 'मोक्षतत्व' है। इस प्रकार जीव और अजीव दो मुख्य तत्त्वोंके साथ इन पाँच तत्त्वोंको जोड़ देनेसे तत्त्वोंकी संख्या ७ हो जाती है। कहीं कर्म आस्रव तत्त्वके विशेष स्पष्टीकरणके लिये पुण्य और पाप इन दोनोंको पृथक् तत्त्व माना गया है, इससे नव तत्त्व कहे गये हैं। इनमेंसे हमें साधना मार्गमें तीन तत्वोंकी जानकारी परमावश्यक है, अतः उनका स्वरूप दृष्टान्त-द्वारा नीचे समझानेका प्रयत्न किया जाता है।

एक सुन्दर सरोवरमें जल भरा हुआ है, समय समय पर उसमें नवीन जल आता रहे और वह परिपूर्ण भरा रहे। इसके लिये जलागमनके कई मार्ग रखे जाते हैं। जब हमें उस सरोवरको जलसे खाली करना होता है। तो प्रथम जलके आनेके मार्गको बन्द कर देते हैं और पुराने जलको गरमी द्वारा शोषण करके या ऐंच कर निकाल डालना पड़ता है; जब ऐसी क्रिया की जाती है अर्थात् नवीन जल नहीं आने दिया जाता और पुराने जलको बाहर फेंक दिया जाता है, तभी वह खाली हो सकता है। यदि नवीन जल आनेके मार्ग बन्द नहीं किये जाते तो चाहे कितना ही प्रयास क्यों न करें सरोवर कभी खाली नहीं हो सकता। इधर जल निकालते जायेंगे, उधर भरता रहेगा। फलतः इष्ट-सिद्धि नहीं होगी। इसी प्रकार जीवरूप सरोवरमें कर्मरूप जल भरा है; जब हमें जीवको कर्मोंसे मुक्त करना है, तो आवश्यक है कि हम कर्मके आनेके मार्गों रूप आस्रव द्वारोंको रोकें, और पूर्व बँधे हुये कर्मोंको तप-संयमादिके द्वारा बाहर निकाल कर फेंक दें या शोषित करदें। इससे नये कर्मोंका बँध होगा नहीं और पूर्वके कर्म भोगकर या तपादि सदनुष्ठानोंसे नष्ट कर देने पर जीवकी मुक्ति होना अनिवार्य एवं स्वाभाविक है।

जैनदर्शनकी साधन प्रणालियें

अब यहाँ यह बतलाना आवश्यक है कि कर्मोंके आगमनके मार्ग आस्रव-द्वार कौन कौनसे हैं, कैसे उनको रोका जाता है व पूर्व संचित कर्मोंका शोषण किस प्रकार हो सकता है? इन बातोंकी जानकारी व उसके अनुसार आचरण करना ही साधना है।

आस्रवद्वार—प्रधान १ राग और २ द्वेष

५ इन्द्रियाँ—कान, नाक, आँख, जिव्हा, शरीरके विषयोंकी इच्छा व आसक्ति—

४ कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ (रोस, अहंकार, कपट, तृष्णा)

५ अव्रत—प्राणी हिंसा, मिथ्या बोलना, चोरी करना, मैथुन-कामभोग, परिग्रह मूर्छावश वस्तुओंका संग्रह

३ योग—मन, वचन, कायका शुभाशुभ व्यापार' शुभ योगसे पुण्य बंध होता है उससे शुभ फलोंकी प्राप्ति होती है और अशुभ योगसे पाप बँधता है।

२५ क्रियायें—परिताप, प्राणवध द्वेष आदिकी प्रवृत्तियों (लेख विस्तारभयसे सबका विवरण नहीं दिया जा सका। विशेष जानने वालोंकी इच्छा वालोंको कर्म-ग्रन्थ तत्वार्थसूत्रकी टीकाएँ और नवतत्व आदि ग्रन्थ देखने चाहियें)

संवर—

३ गुप्ति—१ मनोगुप्ति दुष्ट संकल्प एवं अच्छे बुरे मिश्रित विचारोंका त्याग कर अच्छे अच्छे विचार रहना, ईश्वरका ध्यानादि।

२ वचनगुप्ति— यद्वातद्वा न बोलकर मौन धारण करना। या सन्मार्गका उपदेश देना, प्रभुका भजन आदि।

३ काय गुप्ति—पाप कर्मोंसे कायाकी प्रवृत्ति हटाकर परोपकार रूप प्रवृतियें करना, चंचल इन्द्रियोंकी प्रवृतियोंका विरोध कर लेना अर्थात् उपर्युक्त तीनों योगोंका निग्रह करना।

५ समिति—१ ईर्यासमिति किसी भी जन्तुको क्लेश न हो एतदर्थ सावधानता पूर्वक चलना।

२ भाषासमिति-सत्य हितकारी परिमित और संदेह रहित बोलना।

३ एषणा समिति-जीवन-यात्रामें आवश्यक निर्दोष साधनोंको जुटानेके लिये सावधानता पूर्वक प्रवृत्ति।

४ आदान निक्षेप समिति-वस्तु मात्रको भलि भाँति देख व प्रमार्जित करके लेना या रखना।

५ उत्सर्गसमिति-जहाँ जन्तु न हो ऐसे प्रदेशमें देख कर या प्रमार्जित करके ही मलादि अनुपयोगी वस्तुओंका डालना।

गुप्तिमें असत् क्रिया निषेध मुख्य है और समितिमें सत्क्रियाका प्रवर्तन मुख्य है।

१० धर्म--क्षमा, मृदुता (नम्रता) सरलता, निर्लोभता सत्यता, संयम, तप त्याग, ममत्व त्याग, ब्रह्मचर्य।

इससे संयमके सतरह प्रकार है—५ इन्द्रियोंका निग्रह ५ अव्रतोंका त्याग, ४ कषायोंका जप ३ योगोंका निग्रह।

१२ भावनायें—अनुप्रेक्षा या गहरा चिन्तन

१ अनित्य १ असरण ३ संसार ४ एकत्व ५ अन्यत्व ६ अशुचि ७ आश्रव ८ संवर ९ निर्जरा १० लोक ११ बोधिदुर्लभ और १२ धर्म, ये बारह भावनायें हैं।

२२ परिषहोंका सहना

क्षुधा तृषा, शीत उष्ण, दंशमशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निषेध शय्या, आक्रोश; वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, प्रज्ञा अज्ञान, और अदर्शन, ये २२ परिषह हैं।

४ चारित्र—१ सामायिक (समभाव पूर्वक रहना) २ छेदोपस्थापन (विशेष शुद्धिके लिये पुनः दीक्षा) ३ परिहार विशुद्धि (विशेष तप प्रधान) ४ सूक्ष्म संपराय (क्रोधादि कषायका प्रभाव केवल सूक्ष्म लोभ रहना) ४ यथाख्यात (वीतराग भावकी प्राप्ति)

निर्जरा तत्वके प्रकार—

१ अनशन-आहारका त्याग, २ ऊनोदर-क्षुधासे कम भोजन करना, वृत्तिसंक्षेप-विविध वस्तुओंके लालचको कम करना, ४ रस त्याग-घी, दूध, दही, गुड़, तेल, व पक्वानका त्याग और मधु, मांस, मक्खन व मदिराका सर्वथा त्याग। ५ कायक्लेश-ठंड गर्मी या विविध आसनादि द्वारा शरीरको कष्ट देना, ६ संलीनता-अँगोपांग संकोच कर रहना, एकान्तस्थानमें संयत भावसे रहना।

ऊपरके ६ भेद बाह्य तपके हैं, आभ्यंतरिक ६ भेद ये हैं—

१ प्रायश्चित-दोष शोधन, २ विनय, ३ वैयावृत्य सेवा, ४ स्वाध्याय-वाचना पृच्छना, परावर्त्तना (आम्नाय) अनुप्रेक्षा, धर्मोपदेशरूप, ५ ध्यान, ६ उत्सर्ग-धनधान्य एवं शरीरादिका ममत्व हटाना और काषायिक विकारोंमें तन्मयताका त्याग।

यहां पर लेख विस्तार भयसे मुख्य भेदोंका ही निर्देश किया है इनमेंसे एक एक भेद भी अनेक प्रकार हैं, उन सबका स्वरूप जाननेके लिये तत्वार्थसूत्र, नवपदार्थ ज्ञानसार आदि ग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिये।

सब साधकोंकी योग्यता एकसी नहीं होती, अतः योग्यताके तारतम्यके अनुसार दो प्रकारकी साधना बतलाई गई हैं:—१ गृहस्थ और २ मुनि। इनमेंसे मुनियोंके ५ व्रत होते हैं १ अहिंसा, २ त्याग, ३ अचौर्य ४ ब्रह्मचर्य ५ अपरिग्रह इन पांचों व्रतोंको सम्पूर्ण रूपसे पालन करना मुनिका धर्म है और अंशतः पालन करना गृहस्थका धर्म है। गृहस्थके व्रत १२ कहे जाते हैं, वे इस प्रकार हैं:—

१ पूर्वोक्त ५ व्रतोंको अपनी शक्तिके अनुसार अंशतः पालन करना अणुव्रत है जैसे निरपराधी जीवको मारनेकी बुद्धिसे नहीं मारना, २-३ विशेष अनिष्टकारक राजदण्ड व लोक निंदा होने वाला असत्य न बोलना व वैसी चोरी नहीं करना, ४ पर स्त्री गमनका त्याग, धनधान्यादिका परिमाण कर लेना, उससे अधिक न रखना।

तीन गुण व्रत—१ चारों दिशाओंमें गमनागमनका परिमाण दिग् व्रत, भोग और उपभोगकी वस्तुओंका परिमाण देशव्रत ३ अनावश्यक अनर्थ पापोंका त्याग अनर्थदण्डत्यागव्रत और ४ शिक्षाव्रत—१ सामायिक (नियत समय तक सम भावसे रहना) २ देशावकालिक—पूर्व परिमाण जो जीवन भरके लिये किया है प्रत्येक दिन व समयके लिये संक्षेप, ३ पोषध—उपवासपूर्वक शरीर विभूषाका त्याग कर धर्ममें तत्पर होना ४ सुपात्र साधुओं आदिको दान।

जीवका कर्म बन्धनसे मुक्त हो जाना ही 'मुक्ति' है, इस अवस्थाको प्राप्त होने पर आत्मा निर्लेप, निर्विकार एवं अनन्त शक्तिको प्राप्त होता है। जीवका स्वभाव ऊर्ध्वगती-गामी कहा जाता है। अतः बन्धनके कारण जीवका स्वभाव आच्छादित था, वह मुक्त होते ही प्रगट होता है, और उसके कारण आत्मा सब देव लोकोंके ऊपर जो स्फटिक रत्नकी सिद्ध शिला है उससे एक योजनके बाद लोकका अन्त आता है, वहाँ जाकर निवास करता है। मुक्तावस्था प्राप्त आत्माएँ अपने ध्येय की सम्पूर्ण सिद्धि कर लेती हैं अतः वे 'सिद्ध' कहलाते हैं। ऐसे सिद्ध अनन्त हैं, फिर भी अरूपी होनेके कारण न तो स्थानाभाव एवं भीड़ ही होती है और न शरीरके अभावके करण वहां जगह रुकती है, एक ही स्थानमें अनन्त आत्माओंके रहने पर भी एक दूसरेके लिये

व्याघात उत्पन्न नहीं करते। मुक्ति हो जानेके बाद पुनः संसारमें लौटनेका उनके कोई कारण विद्यमान नहीं रहता, अतः सादि अनन्त स्थितिको वे प्राप्त होजाते हैं। ज्ञान, दर्शन चारित्र और अनन्त शक्ति उनके व्यक्त है, अतः सारे विश्वके त्रिकाल विषयको वे जानते हैं। विश्व प्रपंच दुःखका घर है, उसके एकान्ताभावके कारण मुक्त जीव अनन्त सहज स्वाभाविक सुखका अनुभव करते हैं। जिस प्रकार व्याधि दुःख है और उसके नष्ट हो जानेसे मनुष्य सहज सुखका अनुभव करता है, उसी प्रकार कर्मजन्य दुःखके नितान्ताभावमें परम सुख प्राप्त हो जाता है। इच्छा, वासना, आसक्ति के अभावमें उनके कर्म बन्ध नहीं होते, और कर्मका सम्बन्ध न होनेसे वे संसारमें पुनः लौटते भी नहीं। शुद्धावस्थाको प्राप्त करने पर सब आत्माएं एक समान हो जाती हैं, उनमें न तो कोई उत्तम है और न कोई नीच अर्थात् बड़े छोटे-पनका भी कोई तारतम्य नहीं रहता। प्रत्येक आत्माको जीवादि पदार्थोंका स्वरूप जान कर आस्रवका त्यागकर संयम और तप रूप संवर-निर्जरा द्वारा कर्मोंके बन्धनको तोड़ मुक्ति-शुद्धावस्था प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये, यही जैन दर्शनकी साधनाका परम लक्ष्य है।

आग्रह

शांति-रस पीना बारम्बार ॥ टेक ॥

तिक्त भाव से रिक्त करेगा, मानस का भण्डार।
सिन्धु यही है साम्य-सुधा का, करना इससे प्यार ॥
शान्तिरस पीना बारम्बार ॥ १ ॥

धुल जावेगा पाप-मैल सब, कर स्नान सम्हार।
कीर्ति विश्व में विस्तृत होगी, होगा सत् सत्कार ॥
शान्तिरस पीना बारम्बार ॥ २ ॥

सेवक बन मध्यस्थ भावका, राग-द्वेष परिहार।
उभय परिग्रहसे चेतन तू, ममता भाव निवार ॥
शान्तिरस पीना बारम्बार ॥ ३ ॥

कल-मल-हरण विमल-पद-कारण, करन भवार्णव पार।
नित्य नियम से साधन करना, पाना "प्रेम" सुधार ॥

ब्र० प्रेमसागर पंचरत्न "प्रेम" रीठी

नृपतुंगका मतविचार

[मूल लेखक—श्री एम. गोविन्द पै]
(गत किरणसे आगे)

(आ) गणितसारसंग्रह

यह जैन गणितज्ञ 'वीराचार्य' की कृति है, इस प्रकार श्रीमान् पाठक महाशय (क०मा०भूमिका पृ. ६) ने कहा है; पर इसका नाम 'महावीराचार्य' है, यह बात कै० वा० श्रीशंकर बालकृष्ण दीक्षितके 'भारतीय ज्योतिः शास्त्र' मराठी ग्रंथ (पृ० २३०) से, तथा अलाहाबादसे प्रकाशित 'सरस्वती' नामकी हिन्दी मासिक पत्रिकाकी जुलाई (१९२७) महीनेकी संचिका (पृ० ७८३) से मालूम पड़ती है। यह 'वराहमिहिराचार्य' (ई० स० ५०५) ‡ और उसके ज्योतिष ग्रन्थोंके व्याख्याता 'भट्टोत्पल' (ई० स० ९६७) के समयके बीचमें हुआ होगा, इस प्रकार श्री पाठक महाशयने कहा है (पृ० ६); पर कौनसे आधारसे यह बात निर्णय की गई सो मालूम नहीं। यह गणित ग्रन्थ होते हुये और इसका कर्ता स्वयं गणितज्ञ होते हुये भी इसका रचना-समय इसमें नहीं कहा, यह बड़े आश्चर्यकी बात है।

इस 'गणितसारसंग्रह' की अवतारिका-प्रशस्तिसे श्री पाठकने अपने उपोद्घात (पृ० ७) में जो ८ श्लोकोंको उद्धृत किया है, उनमेंसे अपने लेखके लिये जितना आवश्यक अंश है उतना यहाँ दिया जाता है:—

> अलंध्यं त्रिजगत्सारं यस्यानंतचतुष्टयम्।
> नमस्तस्मै जिनेन्द्राय महावीराय तायिने ॥ १ ॥
> श्रीमदामोघवर्षेण येन स्वेष्टहितैषिणा ॥ ३ ॥
> विध्वस्तैकान्तपक्षस्य स्याद्वादन्यायवादिनः।
> देवस्य नृपतुंगस्य वर्धतां तस्य शासनम् ॥ ८ ॥

इसमें 'वर्धताम्' (वृद्धिगत हो) इस प्रकार वर्तमान कालार्थ विध्याशी रूप प्रयोग करनेसे, यह ग्रन्थ बहुशः अमोघवर्ष—नृपतुंग नामक किसी नरेशके शासनकालमें लिखा हुआ मालूम पड़ता है। पर राष्ट्रकूटवंशके उभय शाखाके नरेशोंमें 'अमोघवर्ष—नृपतुंग' उपाधियोंसे युक्त नरेश बहुतसे होगये हैं अतः इस अवतारिकामें कहा हुआ नृपतुंग वही है यह कैसे कहा जा सकता है? इस आचार्यने अपने ग्रन्थ रचनेका समय, स्थान अथवा अपने जिस राजाका नाम लिया उसके पिताका नाम नहीं कहा, इससे इसके नृपतुंगको अपना नृपतुंग समझ कर कहा हुआ श्री पाठक महाशयका वक्तव्य ठीक नहीं जँचता है।

अथवा इस आचार्यके नृपतुंगको अपने लेखका नृपतुंग समझकर निष्प्रमाणसे स्वीकार करने पर भी, इस काव्यमें कहा हुआ 'विध्वस्त'

---

‡ वराहमिहिरका और भट्टोत्पलका समय श्री महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदीजीके 'गणकतरंगिणी' नामक संस्कृत ग्रन्थके आधारसे कहा है; उस ग्रन्थमें इस वीराचार्य (अथवा महावीराचार्य) का उल्लेख नहीं है।

शब्द कोई छोटी बात नहीं। 'विध्वस्तैकान्तपक्ष' का अर्थ 'एकान्तपक्ष' को समूल नष्ट करने वाला है, 'एकान्तपक्ष' याने भागवत वैष्णव धर्म *। पर यह नृपतुंगके किसी भी शासनमें, उसके सम्बन्धमें उसके समकालीन और कोई लिखे हुए लेखोंसे और उसके सम्बन्धमें जिनसेन-गुणभद्रादि द्वारा कहे हुए वचनोंसे, तथा उसके सम्बन्धमें अब तक उपलब्ध इतिहाससे, मुगल बादशाह औरंगजेबके हिन्दू धर्म और हिन्दू मन्दिरोंको विध्वंस करने (तथा सुन्नी होकर शियाओंकी मसजिदोंको बर्बाद करने) के समान इस नृपतुंगने किया या करवाया या प्रयत्न किया, इस बातको सिद्ध करने वाले कोई प्रमाण हैं क्या? अपने 'कविराजमार्ग' काव्यमें भी किसी प्रकारका समयविरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये (१,१०४) इस तरह मुक्त कंठसे कहने वाला यह धर्म-विध्वंसके कार्यमें क्या हाथ डाले-गा? ऐसी अवस्थामें नृपतुंगने एकान्त पक्षको निर्मूल किया, इस आचार्यके वचन पर कैसे विश्वास कर सकते हैं? इतिहासको एक तरफ़ ढकेलकर ही इसके कहे हुए वचन पर विश्वास कर सकते हैं? यदि विश्वास नहीं कर सकते हैं तो इस नृपतुंगको 'स्याद्वाद-न्यायवादी' याने 'जैनधर्मी' प्रतिपादन करने वाली बात पर कैसे विश्वास कर सकते हैं?

अथवा इस आचार्यका अभिप्राय वैसा नहीं—याने नृपतुंगने एकान्त पक्षको या एकान्त पक्ष-सम्बन्धी धर्ममन्दिरोंको या एकान्तपक्ष वालोंको विध्वंस किया यह अर्थ नहीं; पर अपनेमें तब तक रहे हुए एकान्त पक्षके विश्वास-श्रद्धाका निर्मूल करके, अर्थात् एकान्त स्वधर्मका त्याग करके, धर्मान्तरका ग्रहण करके आप 'स्याद्वादन्याय-वादी' जैन हुआ, यह अर्थ यदि उस आचार्य-वचनसे निकलता है तो उस पर विचार करें।

इस नृपतुंगने जिनसेनके उपदेशसे जैन दीक्षा ली हो तो वह जिनसेनके मरणके पहिले ही होनी चाहिये—हमारे विचारसे ई० सन ८४८के पहले होनी चाहिये, उसके पीछे नहीं। पर इसके शासनकालके ५२ वें वर्ष (ई० सन् ८६६) के पहिले दिये हुए शासनके शिरोलेखमें यह हरिहर†

---

* 'एकान्तपक्ष' अथवा 'एकान्तधर्म' का अर्थ 'महाभारत' के 'शान्तिपर्व' (मोक्षधर्म) के 'नारायणोपाख्यान' में तथा 'श्रीमद्भगवद्गीता' में कहा हुआ अहिंसाप्रधान भागवत वैष्णव धर्म है, इसे पांचरात्र' नाम भी है। (Vide Bhandarkar's "Vaishnavism, Saivism and other minor religions systems"—Strassburg). इसके सम्बन्धमें 'गरुड़पुराण' में (अध्याय १३१) इस प्रकार कहा है:—

> एकान्तेनासमो विष्णुर्यस्मादेषां परायणः।
> तस्मादेकान्तिनः प्रोक्तास्तद्भागवतचेतसः॥
>
> प्रियाणामपि सर्वेषां देवदेवस्य स प्रियः।
> आपत्स्वपि तदा यस्य भक्तिरव्यभिचारिणी॥

† भागवतमें वैष्णव धर्मके हरिहरोंमें भेद नहीं यह बात 'शांतिपर्व' के उसी 'नारायणोपाख्यान' (अध्या० १६८) में कही है। "जो शंकरकी पूजा नहीं करते हुए मुझे पूजेंगे तो उनकी हानि होगी, वे मेरे निग्रहके पात्र हैं; हम दोनोंमें भेद नहीं" ('श्रीकृष्ण-राज-वाणीविलास) नामकी महाभारतकी कर्णाटक टीका; शान्तिपर्वमें 'मोक्षधर्म' पृ० २६८)

भक्त मालूम पड़ता है—किन्तु जैनी था यह मालूम नहीं पड़ता; वैसे ही उसी शासनके 'गरुड़-लाञ्छनं' 'कीर्तिनारायणो' 'महाविष्णुवराज्यम्बोल' इत्यादिसे यह वैष्णव था, यह बात स्पष्ट मालूम पड़ती है। इसके अन्तिम वर्षके (ई० सन् ८७७) सोरब नं ८५, (E.C.Vol.VIII., pt.II) शासन से भी, यह जैन था इस सम्बन्धमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। पर ई० स० ८७७ के पश्चात् नृपतुंग जैन क्यों नहीं बन सकता? यह आक्षेप हो सकता है। पर यह बात हो भी सकती है और नहीं भी; क्योंकि ई० स० ८७७ में नृपतुंगका देहावसान हुआ हो, या राज्यकारसे निवृत होकर उसने वानप्रस्थाश्रमका ग्रहण किया हो, इसका निष्कर्ष अब तक नहीं हुआ, अनिश्चित् ऐतिहासिक घटना परसे ऐसा ही था यह कहना ठीक नहीं। वह कैसी भी हो, इस आचार्यके वक्तव्य का विचार करनेमें कोई वाधा नहीं, क्योंकि 'देवस्य नृपतुंगस्य वर्धतां तस्य शासनम्' इस प्रकार इसके वक्तव्यसे वह नपतुंग उस वक्त शासन करते हुए व्यक्तिसे भिन्न राज्यभारसे निवृत्त (अर्थात् पहिले शासन किया हुआ) नरेश, यह अर्थ नहीं होता; पर ई० स० ८७७ तक नृपतुंग जैन नहीं था यह बात हम पहिले अवगत कर चुके हैं।

उस समय जिनसेनाचार्य जैन मताग्रगण्य था; नृपतुंगने एक बार भी उसे वन्दन किया होगा तो उस पर इस नरेशकी श्रद्धा हो सकती है। ऐसी अवस्थामें इस 'गणितसारसंग्रह' में उस जिनसेनका नाम क्यों नहीं? नृपतुंग जन्मसे जैन धर्मी नहीं था यह बात सभी जानते हैं; यदि वह जैनी हुआ तो किसी जैनाचार्यके उपदेशसे ही होना चाहिये, इस विषयमें उसका उपदेश-गुरु जिनसेन था इस प्रकार कुछ लोगोंका विश्वास है। पर जिनसेन-द्वारा नृपतुंग जैनी हुआ, यह बात 'गणितसारसंग्रह' में नहीं कही गई, अथवा जिनसेनके सिवाय अन्य जैनाचार्यके उपदेशसे नृपतुंग जैनी हुआ यह बात नहीं कही गई; और जन्मतः जैनी नहीं रहे नरेशको जैनी कहा गया। प्रशस्ति के अनेक पद्योंमें वह किसके उपदेशसे जैनधर्मी हुआ इस सम्बन्धमें भी एक दो बात लिखना उस ग्रन्थकर्ताका कर्तव्य था।

अतएव इस गणित ग्रंथकी प्रशस्तिमें कहा हुआ वक्तव्य उस आचार्य-द्वारा स्वतः जाना हुआ सत्य नहीं किन्तु कर्णपरंपरासे सुनी हुई बातको लिख डाला मालूम पड़ता है। ऐतिहासिक दृष्टिमें यह बात मूल्य नहीं रखती। 'पार्श्वाभ्युदय' के टीकाकारने उस काव्यमें 'भुवनमवतु देवः सर्वदामोघवर्षः' इस प्रकारके एक आशीर्वचनसे (बहुशः आप सुनी हुई जनश्रुतिका आधार लेकर) बड़े भारी अतिशयोक्तिपूर्ण कथा-तन्तु-जालको बुना होगा ऐसा मालूम पड़ता है। पर योगिराट् पंडिताचार्यके समान यह (वीराचार्य) जिनसेन, नृपतुंगसे ५५०—६०० वर्षोंके इधरका व्यक्ति नहीं हैं, (बहुशः) उनके समकालीन होगा, इस प्रकार आक्षेप करने पर, जिनसेन और उसके खास शिष्य और अमोघवर्ष-नृपतुंगके शासनमें भी, उसके समयानन्तर उसके पुत्र अकालवर्षके शासन में भी विद्यमान गुणभद्रसे भी जो बात नहीं कही गई उसको इस महावीराचार्यने कहा है तो उसे ऐतिहासिक तथ्य कैसे मान सकते हैं?

पर इस आचार्यसे कहा हुआ अमोघवर्ष—नृपतुंग हमारे इस लेखका नायक न होकर, राष्ट्रकूटवंशका (अथवा अन्य किसी वंशका) और कोई उसी नामका नरेश होगा तो इस आचार्यके कथन और इस नरेशके सम्बन्धमें तर्क-वितर्क करना इस लेखका उद्देश्य नहीं।

(इ) प्रश्नोत्तररत्नमालिका ‡

यह एक नीतिमार्गोपदेशी छोटासा संस्कृत काव्य है । बम्बई 'निर्णयसागर' मुद्रणालयसे प्रकटित काव्य मालाके सप्तम गुच्छकमें यह मुद्रित है । इसमें २९ पद्य हैं; पर 'Indian Antiquary' (Vol. XII.) में इस कविताके सम्बन्धमें (पृ०२१८) इसमें ३० पद्य हैं ऐसा कहा है । इसे प्रथमतः प्रकाशित करने वाले श्रीमान् के. बी. पाठक महाशय मालूम पड़ते हैं; परन्तु 'कविराजमार्ग' के उपोद्घातमें इसका निर्देश करते वक्त इसमें कुल कितने पद्य हैं सो लिखा नहीं, वैसे ही उन्हें मिली हुई प्रतिके अन्तिम एक पद्यको उद्धृत करनेके सिवाय उसमें और पद्योंको दिया भी नहीं । उस उपोद्घातमें (पृ०९) इस कविताके सम्बन्धमें आप कहते हैं:—

"Nripatunga was not only a liberal patron of letters, but he is also known as a Sanskrit author. A few years ago I discovered a small Jaina work entitled" 'Prasnottara-ratnamala' the Concluding verse of which owns Amoghavarsha as its author:—

> विवेकात्त्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका ।
> रचितामोघवर्षेण सुधियां सदलंकृतिः ॥

Several editions of this work have since been published in Bombay. It is variously attributed to Sankara Charya, Sankarananda and a Svetambara writer Vimala. But the royal authorship of the 'Ratnamala' is Confirmed by a Thibetan translation of it discovered by Schiefner in which the author is represented to have been a king, and his Thibetan name, as retranslated into Sanskrit by the same scholar, is Amoghodaya, which obviously stands for Amoghavarsha. This work was composed between Saka 797-99; in the former year Nripatunga abdicated in favour of his son Akalavarsha"

इनका यह विचार कहाँ तक ठीक है, इस सम्बन्धमें विचार करनेके पहिले, उस विचार-सम्बन्धी कुछ पद्य यहाँ देना आवश्यक है—

> प्रणिपत्य वर्द्धमानं प्रश्नोत्तररत्नमालिकां वक्ष्ये ।
> नागनरामरवन्द्यं देवं देवाधिपं वीरम् ॥ १ ॥
>
> कः खलु नालंक्रियते दृष्टादृष्टार्थसाधनपटीयान् ।
> कंठस्थितया विमलप्रश्नोत्तररत्नमालिकया ॥ २ ॥
>
> ....
>
> इति कंठगता विमला प्रश्नोत्तर रत्नमालिकायेषाम् ।
> ते मुक्ताभरणा अपि विभान्ति विद्वत्समाजेषु ॥ २८

'काव्यमाला' (Nirnay-Sagar Press) के संपादकने उसे प्रकट करनेके लिये संग्रहीत 'क' और 'ख' नामांकित हस्तलिखित प्रतियोंमेंसे

‡ इस मूल कविताका अंग्रेजी पद्यानुवाद-युक्त मेरा लेख Canara High School Magazine, Mangalore Vol. II प्रथम अंकमें प्रकाशित है ।

† 'क' प्रतिका अन्तिम पद्य इस प्रकार दिया है—

रचिता सितपटगुरुणा विमला विमलेन रत्नमालेव।
प्रश्नोत्तरमालेयं कंठगता कं न भूषयति ॥ २६ ॥

इसके अलावा 'ख' प्रतिका अन्तिम पद्य और तरह है:—

विवेकात्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका ।
रचितामोघवर्षेण सुधिया ‡ सदलंकृतिः ॥ २६ ॥

यह कृति श्रीमच्छंकराचार्यसे या उसके परम्परा के शंकरानन्द यतिसे रचित होगी ऐसी भी प्रतीति है। इस कृतिकी पुरानी हस्त प्रतियोंमें वर्द्धमान जिन स्तुति-सम्बन्धी पद्य न होंगे, और साथ ही साथ उनमें अन्तिम पद्य ('विमल' श्वेताम्बर गुरु नामका पाठान्तर भी, अमोघवर्ष नामका पाठान्तर भी) नहीं होंगे। इस कृतिमें रचनान्तर प्रक्षेप बहुत दिखाई देते हैं अतः शंकराचार्य तथा शंकरानन्द भी इसके कर्ता नहीं होंगे; क्योंकि:—

(१) आत्मपरमात्मका ऐक्यत्वके सम्बन्धमें इसमें चकार शब्द भी नहीं; (२) अथवा नीति-बोध-सम्बन्धी हम एक छोटीसी कवितामें सिद्धान्त तथा धर्मबोधनकी हवा भी नहीं दीखती; पर शंकराचार्यकी छोटीसी कृति "द्वादशपंजरी" "चर्पट-पंजरी" दोनोंमें नीतिबोधक और धर्मबोधक तत्व प्रत्येक पद्यसे टपकता है—अर्थात् धर्म और नीतिका पृथक्करण इनकी कृतिमें रहना विश्वसनीय नहीं है। (३) वैसे ही इस कवितामें भक्तिबोधक वक्तव्य नहीं है। किसी धार्मिक रीतिसे भी उपासना-सम्बन्धी बातें नहीं हैं। अत एव यह शंकराचार्यकी अथवा शंकरानन्दकी कृति होगी यह कहना ठीक नहीं। (४) साथ ही साथ इसके आरम्भमें या अन्तिम भागमें विष्णु अथवा शिवकी स्तुति भी नहीं है और उनके नाम भी नहीं। इन सब बातों से मालूम पड़ता है यह इन आचार्योंकी कृति नहीं है। (५) इसके १२वें पद्यमें—

'नलिनीदलगतजललवतरलं किं यौवनं धनमथायुः।'

इस प्रकार है, शंकराचार्यकी 'द्वादशपंजरी' के १०वें पद्यमें—

नलिनीदलगतसलिलं तरलं ।
तद्वज्जीवितमतिशयचपलम् ॥

ऐसा है। पर इससे इन दोनोंका कर्ता एक ही होगा यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि नलिनीदलमें स्थित जलबिन्दुकी चंचलताका अपने जीवन, आयुष्य, धनके साथ उपमा करनेकी रूढि सनातन, बौद्ध, जैनधर्म शास्त्रोंमें बहुत पुरानी समयसे आरही है—इन सब बातोंसे यह कविता इन आचार्योंकी कृति नहीं है, यह बात निष्कृष्टरूपसे कह सकते हैं।

ऐसी अवस्थामें इसका कर्ता नृपतुंग ही हो सकता है क्या ? श्रीमान् पाठक महाशय जैसे विद्वान भी इसे नृपतुंगकी कृति मानते हैं, पर निम्नलिखित कारणोंसे उनका अभिप्राय ठीक मालूम नहीं पड़ता:—

† 'काव्यमाला' सप्तम गुच्छक (पृ० १२१ और १२३)

‡ श्रीमान् पाठक महाशयने 'कविराजमार्ग' के उपोद्घातमें इस श्लोकको उद्धृत किया है वहाँ पर 'सुधिया' है, 'काव्यमाला' में प्रकटित काव्यमें यहाँ 'सुधियां' है। 'सुधिया' ('सुधि' शब्दका तृतीयैक वचन) कहनेके बदले 'सुधियाम्' (उसी शब्दकी षष्ठी विभक्ति का बहुवचन) कहना ठीक मालूम पड़ता है।

(१) उपर्युक्त 'काव्यमाला' में कही हुई 'ख' हस्त प्रतिमें 'विवेकात्त्यक्तराज्येन' इस एक ही पद्यके सिवाय अन्य २८ पद्य और 'क' हस्त प्रतिके सभी २९ पद्य संस्कृत 'आर्या' छन्दमें हैं, परन्तु 'ख' प्रति का यह एक अन्तिम पद्य ही 'अनुष्टुभ्' नामका श्लोक है—यह क्यों ? नृपतुंगने अन्य २८ पद्योंको आर्या छन्दमें रचकर, आप विवेकसे राज्यभार त्यागकर पश्चात् इस कविताकी रचना करते हुए यहीं एक पद्य 'अनुष्टभ्' श्लोकमें क्यों रचा ? इतनी छोटीसी कवितामें दो तरहके छन्दोंकी क्या जरूरत थी ? पर 'क' प्रतिके अंतिम पृष्ठोंमें इसका कर्ता 'बिमल' नामक श्वेताम्बर गुरु कहा है, इसी बातको कहनेवाला पद्य उस कृतिके अन्य सब पद्योंकी तरह आर्या छन्दमें रह कर, कृतिके रचनासमन्वयके साथ सुसंगत है, अत एव मूल कृतिका अंतिम पद्य इस 'क' प्रतिकी अंतिम 'आर्या' ही होनी चाहिये और इस कविताका रचिता उसमें कहा हुआ 'विमल' ही होना चाहिये ऐसा मुझे मालूम पड़ता है। (२) इस कविताके पहिले दूसरे और २८ वें पद्योंमें इसका नाम 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' कहा है, 'क' प्रतिके अंतिम पद्यके प्रथम चरणमें इसे 'रत्नमाला' के साथ तुलना किया है, उसके द्वितीय चरणमें इसका नाम कहते वक्त 'रत्नमाला' इस प्रकार पुनरुक्ति नहीं करते हुये प्रश्नोत्तरमाला कहना समंजस है । पर 'ख' प्रतिके अंतिम 'अनुष्टभ्' श्लोकमें इसे 'रत्नमालिका' कह कर 'प्रश्नोत्तर' नामके प्रधान पूर्व पदको ही छोड़ दिया है। अतः इस काव्यके अंतके वक्तव्य तथा 'ख' प्रतिके अंतिम पद्यके वक्तव्यमें परिवर्तन दिखाई देनेसे 'ख' प्रतिका अंतिम पद्य मूल प्रतिमें नहीं होगा ऐसा मालूम पड़ता है।

(३) इस कविताके २२ और २८ वें पद्योंमें दिखाई देने वाला 'विमल' शब्द केवल निर्मल इतना अर्थसे युक्त गुणवाचक नहीं, किन्तु कविने अपने नामके श्लेषसे उसका उपयोग किया होगा, यह बात शीघ्र मालूम पड़ जाती है। अतः कविका नाम 'विमल' ही होना चाहिये।

(४) नृपतुंग शक सं० ७९७ (ई० सन् ८७५) में अपने पुत्र अकालबर्षको अपनी गद्दी पर बैठा कर आप राज्यभारसे निवृत हुआ, इस प्रकार श्रीमान् पाठक महाशयका कहना है, पर ऐसे निष्कृष्ट वक्तव्यके सम्बन्धमें आपने कोई आधार नहीं दिया। यह वक्तव्य ठीक नहीं मालूम पड़ता; क्योंकि ई० स० ८७५-७६ के कुछ शासनोंमें नृपतुंगके पुत्र अकालवर्ष नामक कृष्णका नाम होते हुए भी वह नरेश था यह बात नहीं, युवराज होते हुये अपने पिता नृपतुंगके राज्यके दक्षिण भागका प्रतिनिधि था यह बात है ‡। राजधानी मान्यखेटमें तब नृपतुंग गद्दी पर था, यह बात स्पष्ट है। इसके सिवाय ई० स० ८७७ के सोरब नं० ८५ वें शासनमें भी तब नृपतुंग गद्दी पर था ऐसा लिखा है और यह बात पहिले भी कही जा चुकी है। अतएव ई० स० ८७७ तक नृपतुंगने राज्य त्याग नहीं किया, यह बात व्यक्त होती है।

(५) इस 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' के तिब्बत भाषाके अनुवादमें इसका कर्ता 'अमोघोदय' नाम का राजा कहा है; इसी बातके आधारसे श्रीमान पाठक महाशयने उसे अमोघवर्ष कहा है; परन्तु यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि—(१) 'ख' प्रतिके

‡ I. A., Vol. XII P. 220.

अन्तिम पद्यके अनुसार इस कविताके कर्ता अमोगवर्षने विवेकसे राज्य त्याग किया लिखा है, पर तिब्बत भाषाके अनुवादमें उसके कर्ताने राज्य त्याग किया लिखा हो सो उस बातको पाठक महाशयने कहा नहीं; उस अनुवादमें वैसे नहीं लिखा हो तो अमोघवर्ष और अमोघोदय ये दोनों एक ही व्यक्ति थे ऐसा कहना कैसे? इन दोनोंमें 'अमोघ' यह पूर्व पद रहनेके कारण ये दोनों एक ही व्यक्ति थे इस प्रकार बिना प्रबल आधार के कोई कहे तो उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अतः इस कविताका कर्ता श्वेताम्बर जैन गुरु 'विमल' के सिवाय अन्य कोई नहीं;यह नृपतुंगकी कृति नहीं है यह बात मुझे ठीक मालूम पड़ती है। इस विमलसूरिने कर्नाटक भाषामें क्या काव्य रचना की है? 'कविराजमार्ग' में कहा हुआ 'विमल' ('विमलोदय, नागार्जुन……। २९) नाम का व्यक्ति क्या यही होगा?—इस सम्बन्धमें विद्वान लोगोंको विचार करना चाहिये।

'विवेकात्यक्तराज्येन' * यह श्लोक इस कवितामें प्रक्षिप्त किया गया होगा, इतना ही मैंने कहा है, वह नृपतुंगरचित अन्य किसी संस्कृत ग्रन्थमें नहीं होगा, यह बात मैंने नहीं कही। पर वह स्वयं या उसके सम्बन्धमें और कोई काव्य लिखा होगा, उसमें यह श्लोक रहा भी होगा। परन्तु उसके राज्यत्यागके सम्बन्धमें ठीक आधार प्राप्त होने तक, आगन्तुक किसी श्लोकके ऊपर विश्वास रखकर उसे ऐतिहासिक तथ्य समझकर स्वीकार करना मुझे ठीक नहीं मालूम पड़ता। 'विवेकात्यक्तराज्येन' यह श्लोक ऐतिहासिक तथ्य को कहता है, इस प्रकार निष्प्रमाण स्वीकार करने पर भी इससे नृपतुंगने जैनधर्मका अवलंबन किया यह अर्थ नहीं होता; विवेकसे राज्यभार त्याग किया लिखा है, वह विवेकोदय उसे जैनधर्मसे हुआ यह बात नहीं। ई० स० ८१५ से ८७७ तक करीब ६२-६३ वर्ष तक राज्यशासन किये हुए इसे उस वक्त ८०-८२ वर्षसे कम न हुए होंगे, उस वृद्धावस्थामें यह राज्यभारसे निवृत्त हुआ हो तो वह विवेक नैसर्गिक है। इसके पहिले इसके पितामह ध्रुवराजने राज्य भारसे निवृत होना चाहा था यह बात पहिले कही जा चुकी है।

(ई) कविराजमार्ग

यह एक कर्नाटक अलंकार ग्रन्थ है। यह नृपतुंगकी स्वयं कृति है या उसके आस्थानक किसी कविने उसके नामसे रचना की हो, इस सम्बन्धमें विद्वानोंमें भिन्नाभिप्राय हैं। यदि यह ग्रन्थ नृपतुंगकी स्वयं कृति है तो इसमें इसकी अवतारिकाके दो कंद पद्योंमें (अपने इष्ट देवता) विष्णुकी स्तुति की है † इससे तो यह राजा स्वयं वैष्णव सिद्ध होता है। भागवत वैष्णव धर्ममें हरि-हर समान हैं यह बात पहिले कही जाचुकी है।

* उस नृपतुंगका पितामह राज्य भारसे निवृत होना चाहता था उस वक्त उसके पुत्रने उसे स्वीकार नहीं करते हुये वैसा होने नहीं दिया था, वैसे ही नृपतुंगके राज्य त्याग करना चाहते वक्त उसके पुत्रने अपने पूर्वजोंकी पद्धतिका अनुकरण करते हुये उसे नहीं स्वीकारा होगा, ऐसा मुझे मालूम पड़ता है।

† इस काव्यके तृतीय परिच्छेदके ८१, १६१, १६२ १८६, १९०, १९४ नं० के पद्योंका परिशीलन करें।

इस काव्यके प्रथम भागमें ही विष्णुस्तुति स्पष्ट रहते हुए भी उस तरफ ध्यान नहीं देते हुए, श्रीमान् पाठक महाशयका इसके I ९० और III १८ इन दो पद्योंके आधारसे यह कहना कि "Two verses which praise Jina, reflect the religious opinions of the author" (क० मा० उ० पृ० ७) ठीक नहीं है; क्योंकि इन दोनोंमें I ६० को इस कविकी स्वतन्त्र रचना कहनेकेबदले 'व्यवहित दोष' निदर्शन करनेके लिये और किसी काव्यसे लिया हुआ द्रष्टान्त मालूम पड़ता है, III १८वाँ पद्य इनसे ही रचा गया कन्द पद्य हुआ होगा। सकल धर्मोंको समान दृष्टिसे सत्कार करने वाले इस कन्द पद्यकी रचना करनेसे ही वह जैन था यह कहना असंगतहै इसके सिवाय कोई भी कवि अपने इष्टदेवताकी स्तुति ग्रन्थारम्भमें ही करता है, बीचमें या अन्य जगह जगह पर नहीं करता है। बहुश: I ७८ वां पद्य जैन धर्म-सम्बन्धी पद्य होना चाहिये। इससे क्या? कविके विचारमें धर्मभेद है क्या? जिस धर्ममें अच्छी बात हो उसे ग्रहण करना कविका धर्म नहीं है क्या? अच्छी बात अपने धर्ममें हो तो अच्छी, अन्य धर्ममें हो तो अच्छी नहीं, यह भेद कवियोंमें है क्या? इसके सिवाय कविराज मार्गके I १०३-१०४ नं० के पद्योंमें इसने 'समयविरुद्ध' दोष सम्बन्धी प्रस्ताव में कपिल (सांख्य), सुगत (बौद्ध), कणचर (= कणाद, वैशेषिक) लोकायतिक (नास्तिक) इत्यादि मत-सम्बन्धी उद्गार उन उन मार्गभेदके अनुगुण होने चाहियें। उन उन समयसूत्रोंके विरुद्ध नहीं होने चाहियें, यह बात इसने नहीं कही क्या? ऐसे व्यक्तिने जिनस्तुति-सम्बन्धी पद्योंको अपनी कवितामें जगह जगह पर क्यों नहीं बखेर दिया ‡।

नृपतुंग राजा होनेसे कवि नहीं था यह बात नहीं; क्योंकि भारतवर्षमें शासन करने वाले बहुत-से नरेश स्वयं कवि थे; यदि वैसा न हो तो 'राजशेखर'की (ई०स०करीब ८८०-९२०के बीचमें) 'काव्यमीमांसा' के *—"राजा कविः कविसमाजं विदधीत। राजनि कवौ सर्वो लोकः कविः स्यात्॥" इस वाक्यका वक्तव्य स्वप्नकी बातें नहीं होगा क्या? इस बात को और स्पष्ट करनेके लिये कुछ उदाहरण दिये जाते हैं —(१) सोड्डल देवकी (ई० स० ११ वां शतक) 'उदयसुन्दरी कथा' में † "कवीन्द्रैश्च विक्रमादित्य-श्रीहर्ष—मुंज-भोजदेवादि भूपालैः" लिखा है, (२) श्रीहर्षवर्द्धनने (ई० स० ६०६-६४७) संस्कृतमें 'प्रियदर्शिका', 'रत्नावली'

‡ जैनियोंमें भी किसी प्रकारका धर्मभेद नहीं था इस बातकी मानतुंगाचार्य-कृतपवित्र 'भक्तामरस्तोत्र' नामक जिनस्तुति ही साक्षी है:—

"त्वामव्ययं विभुमचिंत्यमसंख्यमाद्यं।
ब्रह्माणमीश्वरमनंतमनंगकेतुम्॥
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं।
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः॥ २४॥

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्।
त्वं शंकरोसि भुवनत्रयशंकरत्वात्॥
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानाद्।
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोसि"॥ २५॥

* Gaekwad's Oriental Series, No. I P. 54.
† Ibid. No. XI P. 150.

और 'नागानन्द' नामके ३ नाटक लिखे हैं; § (३) समुद्रगुप्तके (ई० स० ३३०-३७५) अलाहाबाद-स्तम्भकी प्रशस्तिसे वह 'कविराज' था, तथा गान्धर्वविद्यामें भी विशारद मालूम पड़ता है। इतना ही नहीं उसके समयके बहुतसे सिक्कोंमें भी उसके सिंहासनमें सुखासीन होते हुये वीणा बजानेका चित्र है$। (४) 'भूलोकमल्ल' उपाधि युक्त (ई० स० ११२६-११३८) चालुक्य वंशके नरेश तृतीय सोमेश्वरने† 'मानसोल्लास' अथवा 'अभिलाषितार्थ-चितामणि' नामका संस्कृत ग्रंथ लिखा है, इत्यादि।

तो भी 'कविराज मार्ग' नृपतुंगकी स्वयं कृति नहीं है औ उनके नामसे दूसरे किसीने उसे रचा होगा ऐसा समझा जाय तो उससे हानि क्या? (१) कन्नड कविश्रेष्ट आदिपंप तथा रन्नकवि जैन थे इस बातको कौन नहीं जानता? परन्तु पंपके 'विक्रमार्जुन विजय' नामक 'पंपभारत' को तथा रन्नके 'गदा युद्ध' को क्या कोई जैन कविकृत कह सकता है? इनमें उन कवियोंने अपने पोषक नरेशोंके स्वधर्मका अनुकरण करते हुए और उसके अनुगुणरूप विष्णुस्तुति, शिवस्तुति इत्यादि से अपना ग्रन्थारम्भ करते हुये, उस धर्मकी धोरणमें ही उनकी आद्यन्त रचना करनेसे ये समग्र वैष्णव धर्ममय हैं। आप जैन होते हुए भी उन कवियोंने अपने काव्योंमें अपने धर्मकी बात ली है क्या? अतः इनके रचयिता कवियोंने स्वतः जैन होते हुए भी इनमें प्रतिफलित धर्म उन कवियोंके पोषकोंका स्वधर्म है, कवियोंका स्वधर्म नहीं इस बातको कौन नहीं जानता? (२) ई० स० १२३० में जयसिंह सूरि नामके श्वेताम्बर कवि रचित 'हम्मीरमदमर्दन' नाटकमें * जिनस्तुति या जैनधर्म-सम्बन्धी किसी बातका ज़िक्र किया हो नहीं। उसमें उसने लिखा है:—

"स्तंभतीर्थनगरी गरीयो रत्नांकुरस्य त्रिभुवन-विभुविनम्र-मौलि मुकुटमणि किरण-धोरणी-धौत-चरणारविन्दस्य वृन्दारकवृन्दविक्रमचक्रतिपरिपाकलुंटाकदृष्टदनुतनुजविजयश्रीभीमस्य श्रीभीमेश्वरस्य यात्रायां ....श्री वस्तुपालकुलकाननकेलिसिंहेन श्रीमता जयसिंहेन"

इस नाटकके अन्तमें नायकसे की गई शिव-स्तुति साक्षात् शैव कवि द्वारा रचित मालूम पड़ती है। उस प्रार्थनासे प्रसन्न होकर शिवने प्रत्यक्ष हो कर नायकके भरत वाक्यको पूर्ति कर दिया लिखा है; (३) होय्सलवंशी वीरवल्लालका (ई० स० ११७३-१२२०) आश्रित् कन्नड जैन कवि जन्नने 'यशोधरचरित' तथा 'अनन्तनाथ पुराण' जैन काव्य रचने पर भी राजाके लिये रचित चन्नराय-पट्टणके १७९ वें (ई० स० ११९१) ताम्रशासन की अवतारिकामें दिया हुआ संस्कृत श्लोक विष्णु स्तुति सम्बन्धी है, और उत्पलमालामें विष्णुकी वराहावतारकी स्तुति है; वैसे ही इसके द्वारा रचित तरिकेरेके ४५ वें (ई० स० ११९७) शासन के आदि पद्यमें 'अमृतेश्वर' नामक शिवकी तथा

§ 'Men and thought in ancient India' pp. 171-172,

$ Ibid, pp. 154-155.

† E. H. D. P. 67.

* Gaekwad's Oriental Series No. X

दूसरे पद्यमें हरिहरकी स्तुति है† इत्यादि।

अत एव इस 'कविराजमार्ग' का कर्ता नृपतुंग नहीं है; उसके आस्थानके किसी कवि-द्वारा रचित है, उसकी अवतारिकामें विष्णुस्तुतिसे, निर्दिष्ट धर्म नृपतुंगका स्वधर्म ही होना चाहिये रचयिताका स्वधर्म नहीं होगा।

'कविराजमार्ग' के अवतारिका-पद्य विष्णु-स्तुति-सम्बन्धी नहीं हैं, उन पद्योंमें नृपतंगने अपना ही वर्णन किया होगा इस प्रकार कोई आक्षेप करेंगे तो, वह आक्षेप निराधार है। इस आक्षेपको निम्न लिखित कारणोंसे निवारण कर सकते हैं,—

'कविद्वारा अपने कथानायकको या अपनेको अपने इष्टदेवताके साथ तुलना करते हुये अथवा इष्ट देवताको अपने कथानायकके नामसे या अपने नामसे उल्लेख करते हुये स्तुति करनेकी रूढि बहुत पुराने समयसे कर्नाटक तथा संस्कृत काव्योंमें है। उदाहरण:—

१ 'भास' महाकविके 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटककी आदि की महासेन (=स्कन्द) स्तुतिमें उसके मुख्य पात्रोंके नाम हैं—

पातु वासवदत्तायो महासेनोतिवीर्यवान्।
वत्सराजस्तु नाम्ना सशक्तिर्यौगन्धरायणः ॥ १ ॥

अपने 'पंचरात्र' नाटकमें नान्दीकी कृष्ण-स्तुतिमें नाटक पात्रोंके नाम दिये गये हैं—

द्रोणः पृथिव्यर्जुनभीमदूतो।
यः कर्णधारः शकुनीश्वरस्य ॥
दुर्योधनो भीष्मयुधिष्ठिरः स
पायाद्विराडुत्तरगोभिमन्युः ॥१॥

(२) आदिपंपने 'विक्रमार्जुनविजय' की अवतारिकाकी विष्णुस्तुतिमें अपने पोषक चालुक्य अरिकेसरिकी विष्णुके साथ तुलना की है—

.... 'उदात्त ना।
रायणनाद् देवनेमगीगरिकेसरि सौख्यकोटियं ॥ १ ॥

(३) रन्नने अपने 'गदायुद्ध' में अपने पोषक चालुक्य नरेश तैलप आहवमल्लकी (ई० स० ९७३-९९७) विष्णुके साथ तथा शिव, ब्रह्म, सूर्य, इत्यादि देवताओंके साथ तुलना करते हुये काव्य का प्रारम्भ किया है—

......आदिपुरुषं पुरुषोत्तमनी चलुक्यना।
रायण देवीनीगेमागे मंगलकारणमुत्सवंगलं ॥ १ ॥

(४) श्रवणबेल्गोलकी गोमटेश्वर महामूर्तिके (ई० स० ९८१) प्रतिष्ठापक चामुंडरायके गुरु नेमिचन्द्रने अपने 'त्रिलोकसार' नामके प्राकृत ग्रंथमें अपने इष्ट तीर्थंकर ३३वें (२२वें)? 'नेमिनाथजिन' के नामको अपना नाम 'नेमिचन्द्र' से उल्लेख करते हुये उनकी स्तुति श्लेषसे कही है—

बलगोविन्दसिहामणिकिरणकलावरुणचरणणहकिरणं।
विमलयरणेमिचंदं तिहुवण चंदं णमं सामि"* ॥

(५) आदिपंपने अपने धर्म ग्रन्थ कन्नड 'आदिपुराण' (ई०स०९४१-४२) के २२ आश्वाससे

† 'जन्नका शासनसंग्रह' ('कर्नाटककाव्यकलानिधि' नं०३४ मैसूर)।

* 'बलगोविन्दशिखामणिकिरणकलापारुणचरणनख किरणम्
विमलतरनेमिचन्द्रं त्रिभुवनचन्द्रंनमस्यामि ॥

अन्तिम आश्वास तक प्रत्येक आश्वासके प्रथम पद्योंमें अपने जिनदेवको अपनी उपाधि 'सरस्वती मणिहार' नामसे ही कहा है—इत्यादि

नृपतुंग जैन नहीं था

(१) जिनसेन तथा गुणभद्रने अपने ग्रन्थोंमें नृपतुंग जैनधर्मावलंबी हुआ यह बात कही नहीं। गुणभद्रके उत्तरपुराणके उस एक श्लोकसे भी वह अर्थ नहीं निकलता।

(२) दिगम्बर जैनियोंके 'सेन' गणकी पट्टावलीमें कहे हुए प्रत्येक गुरुके सम्बन्धमें उससे किया गया विशेष कार्योंका उल्लेख उसके नामके साथ है † उसमें जिनसेनके सम्बन्धमें इतना ही कहा है—

धवल महाधवल-पुराणादि सकलग्रन्थकर्तारः श्री-जिनसेनाचार्याणाम्" (जै. सि. भा.. I. I. पृ० ३६)

(३) जिनसेनने अपनी कृतियोंमें कहीं पर भी मैं नृपतुंगका गुरु हूँ यह नहीं कहा अथवा अपने नामके साथ नृपतुंगका नाम भी नहीं कहा।

(४) जिनसेन ई० स० ८४८ के उपरान्त नहीं होगा। नृपतुंग जिनसेनसे मतान्तर हो गया हो तो उसके पहिले ही होना चाहिये; परन्तु नृपतुंगके समयके ई० स० ८६६ के शासनसे वह तब तक जैन नहीं हुआ इतना ही नहीं किन्तु विष्णुभक्त होना चाहिये, यह बात व्यक्त होती है। उसने महाविष्णुव-राज्यबोल,(महाविष्णु राज्य के समान)राज्य शासन करता था ऐसा लिखा है। जैनधर्मके द्वादश चक्रवर्तियोंमेंसे किसीकी भी उपमा नहीं दी※।

(५) अमोघवर्ष—नृपतुंग नामके बहुतसे राजा हो गये हैं, 'गणितसारसंग्रह' में कहा हुआ नृपतुंग यही होगा तो उसका जन्मधर्म एकान्त-पक्ष याने वैष्णव धर्म था यह बात और भी दृढ होती है। अन्यथा इस पक्षमें कहा हुआ वक्तव्य इतिहासदृष्टिसे असंगत होनेसे उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

(६) 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' नृपतुंगकी कृति नहीं है, उसमें कहा हुआ 'विवेकात्त्यक्तराज्येन' श्लोक उसकी मूल रचना नहीं है, अर्वाचीन प्रक्षेप किया गया होगा अथवा उस श्लोकके वक्तव्य को सत्य समझने पर भी, उससे नृपतुंगने अपने विवेकसे राज्य त्याग दिया अर्थ होता है न कि जैन धर्मका अवलंबन करनेसे वैसा किया या वह विवेक उसे जैनधर्मसे प्राप्त हुआ यह अर्थ सर्वथा नहीं हो सकता है।

---

† उदा० —श्रवणबेल्गुलका गोम्मटेश्वरप्रतिष्ठापक चामुंडरायका प्रथम गुरु 'अजितसेनाचार्य' के सम्बन्धमें इस पट्टावलीमें इस प्रकार है:—

'दक्षिण-मथुरानगरनिवासि क्षत्रियवंशशिरोमणि-दक्षिणत्रैलिंगकर्नाटदेशाधिपतिचामुण्डराय-प्रतिबोधक बाहुबलिप्रतिबिम्ब गोम्मटस्वामिप्रतिष्ठाचार्य श्रीअजितसेन-भट्टारकाणाम्" (जै०सि०भा० १. १ पृ० ३८)

※ विष्णु अपने अनेक अवतारोंमें चक्रवर्ति था यह बात 'श्रीमद्भागवत' इत्यादि पुराणोंसे मालूम पड़ती है उदा०—दशरथराम, ऋषभचक्रवर्ती, प्रथुचक्रवर्ती, इत्यादि) जैन धर्मके द्वादश चक्रवर्तियोंके नाम रत्नने 'अजितपुराण' में कहे हैं (कर्नाटककाव्यकलानिधि ३१ पृ० १८३)

(७) 'कविराजमार्ग' का कर्ता नृपतुंग हो अथवा उसके आस्थानका और कोई हो, उसमें प्रतिफलित धर्म नृपतुंगका धर्म ही होना चाहिये, कर्ता अन्य होने पर भी उसका नहीं; अतएव उसकी अवतारिकाके पद्योंमें कही हुई विष्णु-स्तुतिसे नृपतुंग वैष्णव था यह बात भली भांति व्यक्त होती है।

(८) सोरब शि० लेख नं० ८५ (ई० स० ८७७) में इस नृपतुंगका (और उसके शासनके अन्तिमवर्षका) शासन, इस राष्ट्रकूटवंशके (इसके पहिले राज्य करने वाले) अन्य नरेशोंके शासनके समान है। इससे भी उसने अपने पूर्वजोंका धर्म नहीं छोड़ा मालूम पड़ता है।

(९) ई० सन् ८७७ के पश्चात् इसका देहावसान हुआ हो, अथवा यह राज्य-भारसे निवृत्त हुआ हो, इस बातको निष्कृष्ट करनेके लिये योग्य साधन नहीं है। इसका पुत्र तथा इसके अनन्तर गद्दी पर आया हुआ 'अकालवर्ष' नामका दूसरा कृष्ण (कन्नर) अपने पूर्वजोंके धर्ममें रहसे नृपतुंग आमरणान्त अपने पूर्वजोंके भागवत वैष्णव धर्मका अवलंबी ही होना चाहिये। अपने अन्तिम समयमें भी उसने जैनधर्मका अवलंबन नहीं किया।

—:⁂:—

शिक्षा

जो चाहो सुख जगत में राग-द्वेष दो छोड़।
बन्ध-विनाशक साधु-प्रिय, समतासे हित जोड़॥

अपना अपने में लखो, अपना-अपना जोय।
अपने में अपना लखे, निश्चय शिव-पद होय॥

क्रोध बोध को क्षय करत, क्रोध करत बृष-नाश।
क्षमा अमिय पीते रहो, चाहो आत्म-विकाश॥

—ब्र० प्रेमसागर पञ्चरत्न (प्रेम) रीठी।

'जैनधर्म-परिचय' गीता-जैसा हो

[ले०—श्री दौलतराम 'मित्र', इन्दौर]

गीता हिन्दूधर्मका एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। कौरव-पांडव-युद्ध-घटनाको लेकर गीतामें जीवन की प्राय: सभी समस्याओंके हल करनेका प्रयत्न किया गया है। इस विशेषताके कारण गीता इतनी लोकप्रिय हो गई है कि दुनियाकी प्रायः सभी भाषाओंमें उसके अनुवाद मौजूद हैं।

जो सच्चे धार्मिक हैं,वे सभी अपने अपने धर्म ग्रन्थका प्रभाव फैलाने—प्रचार करने—का प्रयत्न करते हैं। परन्तु प्रचार उसीका होता है जो सर्वसाधारण-जन-सुलभ और सुबोध होता है। गीता-प्रचारकोंने इन दोनों बातोंका अच्छा उपयोग किया है।

गीताप्रचारको देखकर आजके हम जैन लोगोंका भी ध्यान जैनधर्म-प्रचारके लिये आकर्षित होने लगा है। परन्तु जैसा हिन्दूधर्मका सार अथवा जीवनकी प्रायः सभी समस्याओंका हल एक जगह गीतामें इकट्ठा किया गया है, वैसा जैनधर्मका सार एक जगह इकट्ठा किया हुआ नहीं है। यही कारण है कि जैनधर्म-प्रचारके लिये जैनधर्मका परिचय कराने वाले एक ऐसे ग्रन्थकी ज़रूरत है जो हो—"गीता जैसा"।

बहुतसे महत्वपूर्ण ग्रन्थोंके होते हुए भी गीता-जैसा ग्रन्थ हमारे यहाँ संग्रह किया हुआ न होनेसे आज हमें समय समय पर दूसरे धार्मिकोंके कुछ आक्षेप भी सहन करना पड़ रहे हैं। उस दिन कोल्हापुरमें हिन्दू-धर्मपरिषद्के अधिवेशनमें महादेव शास्त्री दिवेकर बोल उठे कि—"जैनियोंके भण्डारमें गीताके समान कोई ग्रन्थ हो तो दिखलाना चाहिये,नहीं तो उन्हें गीता-धर्मका अनुयायी होकर हिन्दूसभामें शामिल होना चाहिये।"

जैनधर्म-ग्रन्थ-प्रचारके लिये अभीके पिछले दिनोंमें भी बहुत कुछ प्रयत्न हुए, परन्तु वे पार नहीं पड़ पाये। पार नहीं पड़ पानेका कारण लेखकोंकी अयोग्यता नहीं किन्तु और और कारण हैं।

पहिला प्रयत्न पं०राजमल्लजीने किया,"पंचाध्यायी" ग्रन्थ संस्कृतमें लिखा, दो अध्याय भी पूरे नहीं हो पाये। अगर यह ग्रन्थ पूरा लिखा गया होता तो इसके सामने गीता फीकी दिखाई देती। फिर भी जितना लिखा गया है उतना ही बहुत महत्व रखता है।

दूसरा प्रयत्न पं०टोडरमलजीने किया, "मोक्षमार्ग-प्रकाशक" ग्रंथ ढूंढाड़ी-हिन्दीमें लिखा, यह भी अधूरा रहा।

तीसरा प्रयत्न पं० गोपालदासजी बरैयाने किया, "जैनसिद्धान्तदर्पण" ग्रन्थ हिन्दीमें लिखा, यह भी पूरा नहीं हुआ।

ये तीनों ही प्रयत्न सर्वसाधारण-जनोपयोगी ग्रन्थ बनानेके थे। प्रमाण ये हैं—

पं० राजमल्लजी पंचाध्यायीमें लिखते हैं—

अत्रान्तरंगहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः।
हेतोस्तथापि हेतुः साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिः॥४॥

सर्वोपि जीवलोकः श्रोतुं कामो वृषं हिसुगमोक्त्या ।
विज्ञसौ तस्य कृते तत्रायमुपक्रमः श्रेयान् ॥ ६ ॥

अर्थ—ग्रन्थ बनानेमें यद्यपि अन्तरंग कारण कविका अति विशुद्ध भाव है तथापि उस कारणका भी कारण सब जीवोंका उपकार करने वाली साधुस्वभाव वाली बुद्धि है ॥ ५॥ सम्पूर्ण जनसमूह धर्मको सरलरीतिसे सुनना चाहता है, यह बात सर्व विदित है । उसके लिए यह प्रयोग (ग्रंथावतार-योजना) श्रेष्ठ है ।

इसी प्रकार पं० टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशकमें लिखते हैं—

"करि मंगल करि हों महाग्रन्थ करनको काज ।
जातैं मिलै समाज सुख पावैं निजपद राज ॥"

पं० गोपालदासजीने भी श्री जैनसिद्धान्त-दर्पणमें लिखा है—

नत्वा वीरजिनेन्द्रं सर्वज्ञं मुक्तिमार्गनेतारम् ।
बाल-प्रबोधनार्थं जैनं सिद्धान्त-दर्पणं वक्ष्ये ॥"

अस्तु—अब हमें यह देखना है कि गीता-जैसा जिनधर्म-विषयक ग्रंथ बनाने और प्रचार करनेके लिये किस किस सामग्रीकी आवश्यकता है ? वह सामग्री यह है—

१ जिन-सिद्धान्त-शास्त्र ।

२ विद्वान लोग ।

३ पाश्चात्य विज्ञानोपकरणोंकी खरीदारी तथा ग्रंथ की लिखाई छपाई आदिके लिये धन ।

जिनसिद्धान्तशास्त्रके विषयमें दावेके साथ कहा जा सकता है कि यह सामग्री हमारे पास काफ़ी है । × दानवीर धनिकोंका भी हमारे समाजमें टोटा नहीं है । अब शेष रहे विद्वान् लोग । सो—आजका जमाना उपयोगितावादका है । किसी बातकी उपयोगिता (आवश्यकता) विज्ञानोपकरणोंके द्वारा सिद्ध कर देने पर ही लोग उसे अधिकांशमें अपनानेको तैयार होते हैं । हमारे समाजमें ऐसे पंडित हैं जो जिनसिद्धांत शास्त्रके जानकार हैं, और ऐसे प्रोफेसर भी हैं जो विज्ञानोपकरणोंके जानकार हैं, परन्तु ये दोनों महानुभाव मिलकर ही ऐसे ग्रंथका निर्माण कर सकते हैं, एक एक नहीं । क्योंकि एक दूसरेके विषयका बहुत ही कम जानकार हैं ।

इस प्रकार सामग्री सब मौजूद है । जिस दिन इस उद्देश्यको लेकर पंडितों और प्रोफेसरोंका सम्मेलन हो जायेगा उस दिन ग्रन्थ तैयार हुआ समझिये । ज़रूरत है ऐसे सम्मेलनकी शीघ्र योजना की ।

यदि दस हज़ार रुपये खर्च करके भी हम ऐसा मूलग्रन्थ (हिन्दी और अंग्रेज़ीमें) तैयार करा सकें तो समझ लेना चाहिये कि वह बहुत ही सस्ता पड़ा ।

मेरी समझमें यह काम "वीरसेवामन्दिर, सरसावा" के सिपुर्द होगा तो पार पड़ सकेगा । अन्यथा नाम भले ही हो जाय, काम होने वाला नहीं ।

× **बल्कि यहाँ तक कहा जाता है कि—**

सुनिश्चितं नः परतंत्रयुक्तिषु,
स्फुरंति याः काञ्चनसूक्तिसम्पदः ।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता,
जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥

अर्थात्—जो कुछ भी अन्य तंत्रोंसें अच्छी अच्छी उक्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं वे सब जिनागमसे उठा ली गई हैं । (राजवार्तिक)

जयति जगति क्लेशावेशप्रपंच-हिमांशुमान् ।
विहत-विषमैकांत-ध्वान्त-प्रमाण-नयांशुमान् ॥
यतिपतिरजो यस्याधृष्यान् मताम्बुनिधेर्लवान् ।
स्वमत-मतयस्तीर्थ्या नाना परे समुपासते ॥

अर्थात्—जिनागमके एकएक विन्दुको लेकर अनेक दार्शनिक अपना अपना मत बखानते हुए उसी जिनशासनकी उपासना करते हैं ।

आशा

[ले०—श्री रघुवीरशरण अग्रवाल एम.ए. "घनश्याम"]

अयि आशे ! तू जगदाधार ।

(१)

तेरे बिन सब शून्य जगत है ।
सभी जगह तव आव-भगत है ॥

पूर्व कार्यके तू आजाती ।
कर्ता को है धीर बँधाती ॥

बनाती क्या क्या नये विचार ।
अयि आशे ! तू जगदाधार ॥

(२)

भिन्न रूपसे सबके मनमें ।
भूमण्डलके हृदयस्थलमें ॥

कैसे कैसे काम कराती ।
भिन्न भिन्न परिणाम दिखाती ॥

भिन्न रखती सबसे व्यवहार ।
अयि आशे ! तू जगदाधार ॥

(३)

पथिक मार्ग चलता तव बल पर ।
पतिव्रता रहती निज व्रत पर ॥

धर्म, अर्थ औ' काम मोक्षके ।
सब साधन तेरे सँजोगके ॥

सभीको देती है आधार ।
अयि आशे ! तू जगदाधार ॥

(४)

नई उमङ्गोंका युवकोंकी ।
नई कल्पनाका बालाकी ॥

अभिलाषाका वृद्ध जनोंकी ।
सुख-निद्राका बाल-गणोंकी ॥

हमेशा करती है विस्तार ।
अयि आशे ! तू जगदाधार ॥

(५)

चातककी उस तृषित तानमें ।
वीणाके सुरमयी गानमें ॥

वधकराजके लोभ-पाशमें ।
विरह-विपीड़ित नारि-श्वासमें ॥

सदा तू करती है संचार ।
अयि आशे ! तू जगदाधार ॥

(६)

कभी राज-महलोंमें रहती ।
कभी गरीबीके दुख सहती ॥

श्रमी कृषकके कभी खेतमें ।
मई-जूनकी लू गर्मीमें ॥

सुख पाती औ' दुःख अपार ।
अयि आशे ! तू जगदाधार ॥

विद्यानन्द-कृत सत्यशासनपरीक्षा

[ले०—न्यायदिवाकर न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जैन शास्त्री, काशी]

जैनहितैषी (भाग १४ अङ्क १०-११) में, उसके तत्कालीन सम्पादक पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार-द्वारा 'सत्यशासन-परीक्षा' ग्रन्थका परिचय कराया गया है। उसीमें इसे विद्यानन्द-कृत भी बतलाया है। मुझे वह परिचय पढ़कर जैनतार्किक-शिरोमणि विद्यानन्दकी इस कृतिको देखनेकी उत्कट इच्छा हुई। मेरी इच्छाको मालूम करके, जैनसिद्धान्तभवन आराके अध्यक्ष सुयोग्य विद्वान् पं० भुजबलीजी शास्त्रीने तुरन्त ही 'सत्यशासनपरीक्षा' की वह प्रति मेरे पास भेज दी। इसका विशेष परिचय निम्न प्रकार है:—

प्रतिपरिचय—

इस प्रतिमें १३×६ इंच साइज़के कुल २६ पत्र हैं। एक पत्रमें एक ओर १२ पंक्तियाँ तथा एक पंक्तिमें करीब ५० अक्षर हैं। लिखावट नितान्त अशुद्ध है। ग्रन्थके मध्यमें कहीं भी ग्रन्थकर्ताका नाम नहीं है। ग्रन्थ अपूर्ण है। क्योंकि आरम्भमें ही "**इह पुरुषाद्वैत शब्दाद्वैत-विज्ञानाद्वैत-चित्राद्वैतशासनानि चार्वाक बौद्धसेश्वर-निरीश्वर-सांख्य-नैयायिक-वैशेषिक-भाट्टप्रभाकरशासनानि तत्वोपप्लवशासनमनेकान्तशासनञ्चेत्यनेकशासनानि प्रवर्तन्ते**" इस वाक्य द्वारा इसमें पुरुषाद्वैत आदि १२ शासनोंकी परीक्षा करनेकी प्रतिज्ञा की गई है। परन्तु प्रभाकरकेमतके निरूपण तक ही ग्रंथ उपलब्ध हो रहा है। प्रभाकरके मतका निरूपण भी उसमें अधूरा ही है। तत्वोपप्लव शासनकी परीक्षा तथा ग्रन्थका सर्वस्व अनेकान्तशासन-परीक्षा तो इसमें है ही नहीं।

यह ग्रन्थ खंडित भी मालूम होता है; क्योंकि पुरुषाद्वैतकी परीक्षाके बाद क्रमानुसार इसमें 'शब्दाद्वैत-परीक्षा' होनी चाहिए, पर शब्दाद्वैतकी परीक्षाका पूराका पूरा भाग इसमें नहीं है। पृ० ६ पर जहाँ पुरुषाद्वैतकी परीक्षा समाप्त होती है, एक पंक्तिके लायक स्थान छोड़ कर 'विज्ञानाद्वैत-परीक्षा' प्रारम्भ हो जाती है। मालूम होता है कि शब्दाद्वैतपरीक्षा वाला भाग छूट गया है। इस ग्रंथका मंगल श्लोक यह है—

विद्यानन्दादि (धि) पः स्वामी विद्वद्देवो जिनेश्वरः।
ये(यो)लोकैकहितस्तस्मै नमस्तात् सात्म(स्वात्म)लब्धये॥

ग्रन्थकी विद्यानन्द-कर्तृकता—

(१) यद्यपि बौद्धदर्शनमें दिग्नागकृत आलम्बन-परीक्षा, त्रिकालपरीक्षा; धर्मकीर्तिविरचितसम्बन्ध परीक्षा; कल्याणरक्षितकी श्रुतिपरीक्षा; धर्मोत्तरकी *प्रमाणपरीक्षा* आदि परीक्षान्त नाम वाले प्रकरणोंके लिखनेकी प्राचीन परम्परा है, शान्तरक्षितका तत्त्वसंग्रह तो बीसों परीक्षाओं का एक विशाल संग्रह ही है। परन्तु जैनदर्शनमें केवल तार्किकप्रवर विद्यानन्दने ही प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा आदि परीक्षान्त नाम वाले प्रकरणोंका रचना शुरू किया है, और दि० तार्किक क्षेत्रमें उन्हीं तक इसकी परम्परा रही है। यद्यपि पीछे भी आचार्य अमितगति आदिने 'धर्मपरीक्षा' आदि परीक्षान्त तात्त्विक ग्रंथ लिखे हैं पर दि० तर्कप्रधान ग्रंथोंमें परीक्षान्त नाम वाले ग्रंथ विद्यानन्दके ही पाए जाते हैं। श्वे० आ० उपाध्याय यशोविजयजीने 'अध्यात्ममतपरीक्षा' तथा

देवधर्मपरीक्षा–जैसे तर्कशैलीके तात्विक ग्रन्थ लिखे हैं। 'सत्यशासनपरीक्षा' का परीक्षान्त नाम भी अपनी विद्यानन्द-कर्तृकताकी ओर संकेत कर ही रहा है।

(२) जिस प्रकार 'प्रमाणपरीक्षा' के मंगलश्लोक में **'विद्यानन्दा जिनेश्वराः'** पद जिनेन्द्रके केवलज्ञान और अनन्तसुखको तो विशेषण बन कर सूचित करता ही है तथा साथ ही साथ ग्रंथकर्ताके नामका भी स्पष्ट निर्देश कर रहा है उसी प्रकार सत्यशासन-परीक्षाके मंगलश्लोकका **'विद्यानन्दाधिपः'** पद भी उक्त दोनों कार्योंको कर रहा है। जिस प्रकार मंगलश्लोकके अनन्तर **'अथ प्रमाणपरीक्षा'** लिखकर प्रमाणपरीक्षा प्रारम्भ होती है ठीक उसी प्रकार मंगलश्लोकके बाद **'अथ सत्यशासनपरीक्षा'** की शुरूआत होती है। यद्यपि 'अथ' शब्दसे ग्रन्थ प्रारम्भ करनेकी परम्परा आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, पातञ्जल-महाभाष्य तथा ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थोंमें पाई जाती है परन्तु मंगलश्लोकके अनन्तर 'अथ' शब्द से ग्रंथ प्रारम्भ करना विद्यानन्दके ग्रंथोंमें देखा जाता है, और यही शैली आ० हेमचन्द्र आदिने भी प्रमाणमीमांसा, काव्यानुशासन आदिमें अपनाई हैं। इस तरह विद्यानन्द-कर्तृकरूपसे सुनिश्चित प्रमाणपरीक्षाकी शैलीसे इसका प्रारम्भ आदि देखनेसे ज्ञात होता है कि यह कृति भी विद्यानन्दकी है।

(३) उपलब्ध ग्रन्थका आन्तरिक निरीक्षण करनेके बाद इसमें कोई भी ऐसा अवतरण-वाक्य नहीं मिलता जिसका कर्ता निश्चितरूपसे विद्यानन्दका उत्तरकालवर्ती हो। इसकी शैली तथा विषयनिरूपणकी पद्धति बिलकुल अष्टसहस्रीसे मिलती है। कहीं कहीं तो इतना शब्द-साम्य है कि पढ़ते पढ़ते यह भ्रम होने लगता है कि 'अष्टसहस्री पढ़ रहे हैं या सत्यशासनपरीक्षा ?' इस तरह बहुतसे स्थलोंमें तो यह अष्टसहस्रीके मध्यम संस्करणके समान ही प्रतीत होती है। ब्रह्माद्वैत आदि प्रकरणोंमें बृहदारण्यक भाष्य-वार्तिक (सम्बन्धवार्तिक श्लोक १७५–८१) आदिके **'ब्रह्माविद्यावदिष्टं चेन्ननु दोषो महानयम्'** इत्यादि वे ही श्लोक इसमें उद्धृत किए गए है जो कि अष्टसहस्री (पृ० १६२) में पाए जाते है। समवायके खंडनमें आप्तपरीक्षाकी शैली शब्दतः तथा अर्थतः पूरी छाप मारती है। इन सब विद्यानन्दके अपने ही ग्रंथोंका इस तरहका तादात्म्य भी 'सत्यशासनपरीक्षा' के विद्यानन्द की कृति होनेमें पूरा पूरा साधक होता है।

(४) विद्यानन्दके ही अष्टसहस्री तथा प्रमाणपरीक्षा आदि ग्रंथोमें तत्वोपप्लवकी समीक्षा बादको देखी जाती है। इसमें भी तत्वोपप्लवकी परीक्षा बादको करनेकी प्रतिज्ञा कीगई है।

ग्रन्थका बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव—

सत्यशासनपरीक्षाके मूल आधार स्वयं विद्यानन्दके ही अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षा ग्रंथ हैं। जिनमें अष्टसहस्रीका तो पद पद पर सादृश्य है। आप्तपरीक्षा का भी समवायके खण्डनमें पूरा पूरा सादृश्य है। इसका प्रतिबिम्ब प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयरत्न-माला आदि ग्रन्थोंपर पूरा पूरा पड़ा है। इन ग्रंथोंमें इस के अनेकों वाक्य जैसेके तैसे शामिल कर लिए गए हैं।

विषयपरिचय—

सबसे पहले परीक्षाका लक्षण करते हुए लिखा है कि **"इयमेव परीक्षा यो यस्येदमुपपद्यते न वेति विचारः"** अर्थात् 'इस वस्तुमें यह धर्म बन सकता है या नहीं, इस विचारका नाम ही परीक्षा है'।

सत्यशासनपरीक्षाका तात्पर्य बताया है—'शासनोंके सत्यत्वकी परीक्षा—कौन शासन सत्य है तथा कौन असत्य' सत्यका परिष्कृत लक्षण करते हुए लिखा है कि—"इद-

मेव हि सत्यशासनस्य सत्यत्वं नाम यत् दृष्टेष्टाविरुद्धत्वम्' अर्थात् शासनोंकी सत्यताका अर्थ है, उनका प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे बाधित नहीं होना। आचार्यमहोदयने सत्यताकी इसी सीधी-सादी कसौटी पर क्रमशः सभी दर्शनोंको कसा है। उन्होंने दर्शनोंकी परीक्षा करते समय पहले सभी दर्शनोंका प्रामाणिक पूर्वपक्ष रक्खा है। फिर पहले उसे प्रत्यक्ष-बाधित बता कर अन्तमें अनुमानसे बाधित सिद्ध करके उस उस दर्शनकी परीक्षा समाप्त की है। इन परीक्षाओंका कुछ परिचय निम्न प्रकार है:—

१ **ब्रह्माद्वैतपरीक्षा**—इसके पूर्वपक्षमें बृहादारण्यकोपनिषत् (२। ३ ।४) **'आत्मावारेऽयं द्रष्टव्यः'**, ब्रह्मसूत्र (१ ।१२)का **'जन्माद्यस्य यतः'**, गीता (१५। १) का **'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्'** इत्यादि अनेकों प्राचीन ग्रंथोंके अवतरण दिए गए हैं। उत्तर पक्षमें समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके दूसरे अध्यायकी **'अद्वैकान्त-पक्षेऽपि** इत्यादि ५-६ कारिकाएँ उद्धृत हैं। अकलङ्कदेवके न्यायविनिश्चयकी **"इन्द्रजालादिषु भ्रान्ति"** यह कारिका (नं० ५१), कुमारिलके मीमांसा-श्लोकवार्तिक (पृ०१६८) की **'अस्तिह्यालोचनाज्ञानम्'** यह कारिका भी प्रमाणरूपमें उद्धृत है। अष्टशती (का० २७) का **'अद्वैतशब्दः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षः नञ्पूर्वाखण्डपदत्वाद्धेत्वभिधानवत्'** यह प्रसिद्ध अनुमान भी अद्वैतके खण्डनमें उपस्थित किया गया है।

अविद्याको अनिर्वचनीय कह करके भी उसके स्वरूपका निरूपण करनेवाले अद्वैतवादीको स्ववचनविरोध दूषण देते हुए उसके अनेक दृष्टान्त दिए हैं। यथा—

यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी च मत्पिता।
माता मम भवेद्वन्ध्या स्मराभोऽनुपमो भवान्॥

अकलंक देवके सिद्धिविनिश्चय (पृ० ६५) का **'यथा यत्राविसंवादः तथा तत्र प्रमाणता'** यह कारिकांश अकलंकदेवका नाम निर्देश करके ही उद्धृत किया है। अष्टसहस्री (पृ० १५६) का **'नहि करोति कुम्भं कुम्भकारो दण्डादिना, भुङ्क्ते पाणिनौदनमित्यादि-क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षं भ्रान्तं ..'** इत्यादि अंश ज्योंका त्यों ग्रन्थमें शामिल है। अन्तमें ब्रह्माद्वैतपरीक्षाका उपसंहार करते हुए लिखा है कि—

ब्रह्माविद्याप्रमापायात् सर्ववेदान्तिना(नां) वचः।
भवेत्प्रलापमात्रत्वान्नावदे(धे)यं विपश्चिताम्॥
ब्रह्माद्वैतं मतं सत्यं न दृष्टेष्टविरोधतः।
न च तेन प्रतिक्षेपः स्याद्वादस्येति निश्चितम्॥

२ **शब्दाद्वैतपरीक्षा**—इसका भाग ग्रथमें नहीं है।

३ **विज्ञानाद्वैतपरीक्षा**—इसका निरूपण भी अष्टसहस्रीके सातवें परिच्छेदसे बहुत कुछ मिलता जुलता है। इसमें अष्टशती (अष्टसहस्री पृ०२३४) में उद्धृत **'युक्त्या यन्न घटामुपैति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्दधे'** यह वाक्य उद्धृत है।

विज्ञानाद्वैतका पूर्वपक्ष समाप्त करते हुए ये श्लोक लिखे हैं, जो किसी जैनतर्कग्रंथमें उद्धृत नहीं हैं—

नावनिर्न सलिलं न पावको न ोमस गगनं न चापरम्।
विश्वनाटकविलाससाक्षिणी संविधे(दे)व पतितोविजृम्भयति॥
एकसंविधि(दि)विभाति भेदधीःनीलपीतसुखदुःखरूपिणी।
निम्ननाभीरमुन्नतस्तनी स्त्रीति चित्रफलकेसमे इति॥

उत्तरपक्षमें समन्तभद्रके युक्त्यानुशासनकी **'अनर्थिकासाधनसाध्यधीश्चेद्'** इत्यादि कारिका प्रामणरूपमें उद्धृत कीगई है। अन्तमें उपसंहार करते हुएलिखा है—

प्रमाणाभावतः सर्वं विज्ञानाद्वैतिनां वचः।
भवेत्प्रलापमात्रत्वान्नावधेयं विपश्चिताम्॥
ज्ञानाद्वैतं न सत्यं स्याद् दृष्टेष्टाभ्यां विरोधतः।

न च तेन प्रतिक्षेपः स्याद्वादश्चे (दृस्ये) ति निश्चितम् ॥

४ **चार्वाकमतपरीक्षा**--इसके पूर्वपक्षमें सबसे पहले **सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा**'इस कारिकाके द्वारा सर्वज्ञ पर आक्षेप करके अन्तमें तर्क और आगमकी निःसारता दिखाते हुए महाभारतका यह श्लोक उद्धृत किया है—

तर्कोऽप्रतिष्ठःश्रुतयो विभिन्ना नासौ मुनिर्यस्य वचःप्रमाणं।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः सपन्था ॥

यह समस्त पूर्वपक्ष अष्टसहस्री (पृ० ३६) के समान ही है ।

अन्तमें अग्निहोत्रादिको बुद्धि और पुरुषार्थशून्य ब्राह्मणोंकी आजीविकाका साधन कहकर विषय-भोगोंको छोड़ने वालोंकी निपट मूर्खता बताते हुए लिखा है कि—

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् नास्ति मृत्योरगोचरः ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥
अग्निहोत्रं त्रयी वेदाः त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥" इत्यादि

उत्तरपक्षमें यशस्तिलक उत्तरार्ध (पृ० २५७) तथा प्रमेयरत्नमाला (४ । ८) में उद्धृत--

तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः ।
भूतानन्वयनात् सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥

यह कारिका तथा समन्तभद्रके युक्त्यनुशासनकी **'मद्यांगवद्भूतसमागमे ज्ञः,** यह कारिका (श्लोक नं०३५ प्रमाणरूपमें पेश कीगई है । अन्तमें उपसंहार करते हुए वैसा ही श्लोक लिखा है —

न चार्वाकमतं सत्यं दृष्टादृष्टेष्टबाधतः ।
न च तेन प्रतिक्षेपः स्याद्वादश्चे (दृस्ये)ति निश्चितम् ॥

५ **ताथागतमतपरीक्षा**—इसके पूर्वपक्षमें रूपादि पांच स्कंधोंके लक्षण, दुःखसमुदाय आदि चार आर्य सत्योंके स्वरूप,तथा मोक्षके सम्यक्त्व आदि आठ अंगोंका बहुत सुन्दर विवेचन किया है । मोक्षके शून्यरूपका वर्णन करते हुए अश्वघोषकृत सौन्दरनन्द काव्य (१६ । २८-२९) के ये श्लोक उद्धृत किए हैं—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्स्नेहक्षयात् केवलमेतिशांतिम्।
जिनस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्
दिशं नकाञ्चिद्विदिशं न काञ्चिद्मोहक्षयात् केवलमेतिशांतिम्

मोक्षके उपायोंमें सिर और दाढ़ीका मुँडाना, कषाय वस्त्रका धारण करना तथा ब्रह्मचर्यका पालन आदि उल्लेखित है ।

उत्तरपक्ष अष्टसहस्रीकी शैलीसे ही लिखा गया है । इसमें लघीयस्त्रयकी **'यथैकं भिन्न देशार्थान्'** कारिका (श्लोक नं०३७) उद्धृत की है । अन्तमें खंडन करते करते खीजकर बौद्धोंको लिखा है कि—ये हेयोपादेय विवेकसे रहित होकर केवल अनापशनाप चिल्लाते हैं— **"तथा च सौगतो हेयोपादेयरहितमह्रीकः केवलं विक्रोशति** इत्युपेक्षामर्हति" यही वाक्य अष्टसहस्रीमें लिखा है । बात यह है कि धर्मकीर्तिने दिगम्बरोंके लिये अह्रीक आदि शब्दोंका प्रयोग करते हुए प्रमाणवार्तिक (३ । १८२) में लिखा है कि—**'एतेनैव यदह्रीका यत्किञ्चिदश्लीलमाकुलम् । प्रलपन्ति ।..........'**'पूर्वोक्त पंक्ति में धर्मकीर्तिके शब्द उन्हींको धन्यवादके साथ वापिस किए गए हैं । इसमें समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा तथा युक्त्यनुशासनके अनेकों पद्य प्रमाणरूपसे उद्धृत कर खंडनको अधिकसे अधिक सुगठित किया है ।

स्कंधकी सिद्धिमें सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत **'णिद्धस्स णिद्धेण दुराधिएण'** यह गाथा भी उद्धृत की है । अन्तमें सुगतमतको दृष्टेष्टबाधित बताकर सुगतमत-परीक्षा समाप्त की है ।

६ सांख्यमतपरीक्षा—इसके पूर्वपक्षमें पचीस तत्वोंके ज्ञानकी महत्ता बताते हुए माठरवृत्ति (पृ० ३८) में दिया गया यह श्लोक उद्धृत किया है—

पंचविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रतः।
जटी मुंडी शिखी केशी मुच्यते नात्र संशयः॥

खंडन ठीक अष्टसहस्री-जैसा ही है।

७ वैशेषिकमतपरीक्षा—इसके पूर्वपक्षमें मोक्षके साधन बताते हुए लिखा है कि—**शैव-पाशुपतादिदीक्षा-ग्रहण-जटाधारण-त्रिकालभस्मोद्धूलनादितपोऽनुष्ठानविशेषश्च।**"

वैशेषिकके अवयवीका खंडन करते हुए उसे '**अमूल्यदानक्रयी**'—बिना कीमत दिए खरीदने वाला—लिखा है। यह पद धर्मकीर्तिके ग्रंथोंमें पाया जाता है।

इसका समवायके खंडन वाला प्रकरण 'आप्तपरीक्षा' के साथ विशेष सादृश्य रखता है। और इसीका प्रतिबिम्ब प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रके समवाय खंडनमें स्पष्ट देखा जाता है।

८ नैयायिकमतपरीक्षा—वैशेषिक और नैयायिकोंमें कोई खास भेद न बताते हुए वैशेषिकमतके साथ ही साथ इसकी भी लगे हाथ परीक्षा कीगई है। इसके पूर्वपक्षमें भक्तियोग, क्रियायोग तथा ज्ञानयोगका वर्णन है। भक्तियोगसे सालोक्य मुक्ति, क्रियायोगसे सारूप्य और सामीप्य मुक्ति, तथा ज्ञानयोगसे सायुज्य मुक्तिका प्राप्त होना बहुत विस्तारसे बताया है। उत्तरपक्षमें विपर्यय, अनध्यवसाय पदार्थोंको सोलहसे अतिरिक्त मानने का प्रसंग दिया है। सोलह पदार्थोंके खंडनका यही प्रकार प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रंथोंमें भी देखा जाता है। अन्तमें, उपसंहार करते हुए लिखा है कि—

"**संसर्गहानेःसर्वार्थहानेर्योगवचोऽखिलम्। भवेत्प्रलाप...**"

९-१० भाट्ट-प्रभाकरमतपरीक्षा—पूर्वपक्षमें भाट्टों द्वारा ग्यारह पदार्थोंका स्वीकार करनेका स्पष्ट कथन है, जो किसी प्राचीन तर्कग्रन्थमें नहीं देखा जाता—

"**मीमांसकेषु तावद् भाट्टा भणन्ति—पृथिव्यप्तेजोवायुदिक्कालाकाशात्ममनःशब्दतमांसि इत्येकादशैव पदार्थाः।**"

प्रभाकर नव पदार्थ ही मानते हैं—"**द्रव्यं गुणः क्रिया जातिः संख्या सादृश्यशक्तयः। समवायक्रमश्चेति नव स्युः गुरुदर्शने**" भाट्ट गुण क्रिया आदिको स्वतंत्र पदार्थ नहीं मानते।

भाट्ट जातिका और व्यक्तिमें सर्वथा तादात्म्य मान कर भी जातिको नित्य और एक मानते हैं। इसका खंडन करते हुए हेतुबिन्दुकी अर्चटकृत टीकामें उद्धृत निम्न कारिकाएँ भी प्रमाणरूपमें पेश की गई हैं:—

तादात्म्यं चेन्मतं जातेर्व्यक्तिजन्मन्यजातता।
नाशेऽनाशश्च केनेष्टः तद्वच्चानन्वयो न किम्॥ इत्यादि

बस सामान्यका खंडन अधूरा ही है। आगेका ग्रंथ नहीं मिलता।

इसमें आगे भट्ट जयराशिसिंहकृत 'तत्त्वोपप्लवसिंह ग्रंथमें प्ररूपित तत्त्वोपप्लव सिद्धान्तकी परीक्षा होगी। अष्टसहस्री आदिकी तरह ही इसमें यह परीक्षा अत्यन्त विशद होनी चाहिए।

यहां तक तो ग्रंथका खंडनात्मक भाग ही है। आगेका '**अनेकान्तशासनपरीक्षा**' भाग, जो ग्रन्थका मंडनात्मक भाग है और काफी विस्तारसे लिखा गया होगा, इसमें उपलब्ध ही नहीं है।

तर्कग्रन्थोंके अभ्यासी विद्यानन्दके अतुल पाण्डित्य, तलस्पर्शी विवेचन, सूक्ष्मता तथा गहराईके साथ किए जाने वाले पदार्थोंके स्पष्टीकरण एवं प्रसन्नभाषामें गूंथे गए युक्ति जालसे परिचित होंगे। उनके प्रमाणपरीक्षा,

पत्रपरीक्षा और आप्तपरीक्षा प्रकरण अपने अपने विषयके बेजोड़ निबन्ध हैं। ये ही निबन्ध तथा विद्यानन्द के अन्य ग्रंथ आगे बने हुए समस्त दि० श्वे० न्याय-ग्रंथोंके आधार भूत हैं। इनके ही विचार तथा शब्द उत्तरकालीन दि० श्वे० न्यायग्रन्थों पर अपनी अमिट छाप लगाए हुए हैं। यदि जैनन्यायके कोशागारसे विद्यानन्दके ग्रन्थोंको अलग कर दिया जाय तो वह एकदम निष्प्रभ-सा हो जायगा। उनकी यह **सत्यशासन-परीक्षा** ऐसा एक तेजोमय रत्न है जिससे जैनन्यायका आकाश दमदमा उठेगा। यद्यपि इसमें आए हुए पदार्थ फुटकररूपसे उनके अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंमें खोजे जा सकते हैं पर इतना सुन्दर और व्यवस्थित तथा अनेक नए प्रमेयोंका सुरुचिपूर्ण संकलन, जिसे स्वयं विद्यानन्दने ही किया है, अन्यत्र मिलना असम्भव है।

मैं आशा करता हूँ कि जैनसिद्धान्तभवनके सुयोग्य अध्यक्ष इसकी मूल प्रतिका पता लगाएँगे। अन्य भंडारोंमें भी इस ग्रन्थरत्नकी प्रतियाँ मिलेंगी। शास्त्ररसिकोंको इस ओर लक्ष्य अवश्य देना चाहिए। जब इसकी पूर्णप्रति उपलब्ध हो जाय तब इसका सुन्दर संस्करण माणिकचन्द्रग्रन्थमाला या अन्य ग्रंथमालाओं को अवश्य ही प्रकाशित करना चाहिए। यदि दुर्भाग्यसे यह ग्रन्थ अन्य भण्डारोंमें अधूरा ही मिले तो समझ लेना चाहिए कि यह विद्यानन्दस्वामीकी अंतिम कृति है। पर मात्र मौजूदा प्रतिके भरोसे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता; क्योंकि इसमें बीचमें भी कई जगह पाठ छूटे हैं और सम्भव है कि अंतमें भी नकल अधूरी रह गई हो। यदि पूरा ग्रंथ न मिले तब उपलब्ध भाग ही प्रकाशित होना चाहिए, इससे अनेकों प्रमेयोंका खुलासा परिज्ञान किया जा सकेगा।

प्रो० जगदीशचन्द्र और उनकी 'समीक्षा'

[सम्पादकीय

अनेकान्तके पाठक प्रो० जगदीशचन्द्रजी जैन एम. ए. से थोड़े-बहुत परिचित हैं—उनके कुछ लेखोंको 'अनेकान्त' में पढ़ चुके हैं। आप यू० पी० के एक दिगम्बर जैन विद्वान् हैं। एम० ए० के बाद रिसर्चका अभ्यास करनेके लिये कुछ अर्से तक आप बोलपुरके शान्तिनिकेतनमें एक रिसर्चस्कॉलरके रूपमें रहे हैं। इसी समय 'सिंघी जैनग्रन्थमाला' के संचालक मुनि जिनविजयजीकी ओरसे आपको 'राजवार्तिक' के सम्पादनका कार्य सौंपा गया था, जिसका आपने अपने पिछले लेखमें उल्लेख किया है, और जो बादको स्थगित रहा है। आजकल आप बम्बईके रूइया कालिजमें प्रोफ़ेसर हैं। राजवार्तिक पर कुछ काम करते समय आपकी यह धारणा होगई है कि— १ उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र पर श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जो भाष्य प्रचलित है तथा 'स्वोपज्ञ' कहा जाता है वह स्वोपज्ञ ही है अर्थात् स्वयं मूलसूत्रकार उमास्वातिकी रचना है; २ राजवार्तिक लिखते समय अकलंकदेवके सामने यही भाष्य मौजूद था, ३ अकलंकदेव इस भाष्य तथा मूल 'तत्त्वार्थसूत्र'के कर्ताको एक व्यक्ति मानते थे, और ४ उन्होंने अपने राजवार्तिकमें इस भाष्यका यथेष्ट उपयोग किया है, इतना ही नहीं बल्कि इसके प्रति 'बहुमान' भी प्रदर्शित किया है। चुनाँचे अपनी इस धारणा अथवा मान्यताको दूसरे विद्वानोंके (जो ऐसा नहीं मानते) गले उतारनेके लिये आपने 'तत्त्वार्थाधिगमभाष्य और अकलंक'नामका एक लेख लिखा, जो 'अनेकान्त' की गत ४ थी किरण में प्रकाशित हो चुका है।

इस लेखमें प्रोफ़ेसरसाहबने विद्वानोंको विशेष विचारके लिये आमन्त्रित किया था। तदनुसार मैंने भी अपना विचार 'सम्पादकीय-विचारणा' के नामसे प्रकट कर दिया था—४ पेजके लेखके अनन्तर ही ५ पेजकी अपनी 'विचारणा' को भी रख दिया था—, जिसमें प्रोफ़ेसर साहबकी मान्यताकी आधारभूत युक्तियों को सदोष बतलाते और उनका निरसन करते हुए यह स्पष्ट किया गया था कि उन मुद्दों परसे यह बात फलित नहीं होती जिसे प्रो० साहब सुझाना चाहते हैं। साथ ही, विद्वानोंको इस विषय पर अधिक प्रकाश डालनेके लिये प्रेरित भी किया था।

अपने आमन्त्रणको इतना शीघ्र सफल होते देखकर, जहाँ प्रो० साहबको प्रसन्न होना चाहिये था वहाँ यह देखकर दुःख तथा खेद होता है कि इतनी अधिक संयत भाषामें लिखी हुई गवेषणापूर्ण 'विचारणा'को पढ़कर भी आप कुछ अप्रसन्न हुए हैं! अपनी इस अप्रसन्नताको अपने उस लेखके प्रारम्भमें ही व्यक्त किया है, जो 'सम्पादकीय-विचारणाकी समीक्षा' के रूपमें लिखा गया है तथा इसी किरणमें अन्यत्र प्रकाशित हो रहा है और जिसे प्रो० साहबने अपना वही पुराना "तत्त्वार्थाधिगमभाष्य और अकलंक" शीर्षक दिया है। मालूम नहीं आपकी इस अप्रसन्नताका क्या कारण है?

हो सकता है कि अपनी जिस मान्यता अथवा धारणाको आप सहज ही दूसरे विद्वानोंके गले उतारना चाहते थे उसमें उक्त 'विचारणा' के कारण स्पष्ट बाधाका उपस्थित होना आपको जँच गया हो और यही बात आपकी अप्रसन्नताका कारण बन गई हो। अस्तु, आपके वे अप्रसन्नता-सूचक वाक्य, जिन्हें लेखके साथ संगत अथवा उसका कोई विषय न होने पर भी आपको अपनी चित्तवृत्तिके न रोक सकनेके कारण देने पड़े हैं और साथ ही यह लिखना पड़ा है कि "यह इस लेखका विषय नहीं है", इस प्रकार हैं:—

"शायद पं० जुगलकिशोरजीको यह बात न जँची, और उन्होंने मेरे लेखके अन्तमें एक लम्बी-चौड़ी टिप्पणी लगा दी। हमारी समझसे इस तरहके रिसर्च-सम्बन्धी जो विवादास्पद विषय हैं, उन पर पाठकोंको कुछ समय के लिये स्वतन्त्ररूपसे विचार करने देना चाहिये। सम्पादकको यदि कुछ लिखना ही इष्ट हो तो वह स्वतंत्र लेखके रूपमें भी लिखा जासकता है। साथ ही, यह आवश्यकता नहीं कि लेखक सम्पादकके विचारोंसे सर्वथा सहमत ही हो।"

इन वाक्यों परसे जहाँ यह स्पष्ट है कि प्रो० साहब को उक्त 'सम्पादकीय-विचारणा' नागवार (अरुचिकर) मालूम हुई है वहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि उससे पाठकोंके स्वतन्त्ररूपसे विचार करनेमें कौनसी बाधा उपस्थित हो गई है—उसने तो पाठकोंके विचारक्षेत्रको बढ़ाया है और उनके सामने समुचित विचारमें सहायक और अधिक सामग्री रक्खी है। क्या समुचित विचारमें सहायक अधिक सामग्रीका जुटाया जाना अथवा जानकार विद्वानोंके द्वारा विचारका जल्दी प्रारम्भ कर दिया जाना रिसर्च-सम्बन्धी अथवा किसी भी विवादास्पद विषयके विचारमें कोई बाधा उत्पन्न करता है? कदापि नहीं। तब क्या प्रो० साहब सम्पादकको विचारक नहीं मानते? या उन विद्वानोंमें परिगणित नहीं करते जिन्हें आपने अपने लेख पर विचार करनेके लिये आमन्त्रित किया है? अथवा उसे अपने लेखका वह पाठक तक भी नहीं समझते जिसके विचाराऽधिकारको अपने लेखके उक्त वाक्यमें स्वयं स्वीकार किया है? यदि ऐसा कुछ भी नहीं है तो फिर 'सम्पादकीय विचारणा' पर उक्त आपत्ति और अप्रसन्नता कैसी? अथवा सम्पादकके विचाराधिकार पर इस प्रकारका नियन्त्रण कैसा कि वह किसीके लेख पर विचार न करके स्वतन्त्र लेख लिखा करे? और यदि इनमेंसे कोई बात प्रो० साहबके ध्यानमें रही है तो कहना होगा कि आपके उस लेखका ध्येय स्वतन्त्र विचार नहीं था—विचारका मात्र आडम्बर अथवा प्रदर्शन था। और इसलिये तब आपकी अप्रसन्नताका कारण वही हो सकता है जिसकी सम्भावनाकी ऊपर कल्पना कीगई है। ऐसे कारणका होना निःसन्देह एक विचारक तथा विचारके लिये दूसरे विद्वानोंको आमंत्रित करने वालेके लिए बड़ी ही लज्जाकी बात होगी। बाकी यह बात कब किसने आवश्यक बतलाई है कि "लेखक सम्पादकके विचारोंसे सर्वथा सहमत ही हो"? जिसके निषेधकी प्रो० साहबको ज़रूरत पड़ी है, सो कुछ भी मालूम नहीं हो सका। यदि ऐसी कोई बात आवश्यक हो तो सम्पादक ऐसे लेखको छापे ही क्यों? और क्यों टीका-टिप्पणी अथवा नोट लगानेका परिश्रम उठाए? परन्तु बात ऐसी नहीं है। वास्तवमें जब किसी सावधान सम्पादकको यह बात जँच जाती है कि लेखका अमुक अंश भ्रममूलक है और वह जनतामें किसी भारी भ्रान्ति अथवा ग़लत-फ़हमीको फैलाने वाला है तो वह अपने पाठकोंको उससे सावधान कर देना अपना कर्तव्य समझता है;

और यदि समय, शक्ति तथा परिस्थिति सब मिलकर उसे इजाज़त देते हैं तो वह उसी समय उस पर अपना नोट या टिप्पणी लगाकर यथेष्ट प्रकाश डाल देता है, और इस तरह अपने अनेक पाठकोंको भूलभुलैयाँके एकान्तगर्तमें न पड़कर विचारका सही मार्ग अंगीकार करनेके लिये सावधान कर देता है। मैं भी शुरूसे इसी नीतिका अनुसरण करता आ रहा हूँ। लेखोंका सम्पादन करते समय मुझे जिस लेखमें जो बात स्पष्ट विरुद्ध, भ्रामक, त्रुटिपूर्ण, ग़लतफ़हमीको लिये हुए अथवा स्पष्टीकरणके योग्य प्रतिभासित होती है और मैं उस पर उसी समय यदि कुछ प्रकाश डालना उचित समझता हूँ और समयादिककी अनुकूलताके अनुसार डाल भी सकता हूँ तो उस पर यथाशक्ति संयतभाषामें अपना (सम्पादकीय) नोट लगा देता हूँ। इससे पाठकोंको सत्यके निर्णयमें बहुत बड़ी सहायता मिलती है, भ्रम तथा ग़लतियाँ फैलने नहीं पातीं, त्रुटियोंका कितना ही निरसन हो जाता है और साथ ही पाठकों की शक्ति तथा समयका बहुतसा दुरुपयोग होनेसे बच जाता है। सत्यका ही सब लक्ष्य रहनेसे इन नोटोंमें किसीकी कोई रू-रिआयत अथवा अनुचित पक्षापक्षी नहीं की जाती और इसलिये मुझे कभी कभी अपने अनेक श्रद्धेय मित्रों तथा प्रकाण्ड विद्वानोंके लेखों पर भी नोट लगाने पड़े हैं। परन्तु किसीने भी उन परसे बुरा नहीं माना; बल्कि ऐतिहासिक विद्वानोंके योग्य और सत्यप्रेमियोंको शोभा देने वाली प्रसन्नता ही व्यक्त की है। और भी कितने ही विचारक तथा निष्पक्ष विद्वान मेरी इस विचार-पद्धतिका अभिनन्दन करते आ रहे हैं।

हाँ, ऐसे भी कुछ विद्वान् हैं जो मेरी इस नोट-पद्धति को पसन्द नहीं करते। उनकी रायमें नोटसे लेखक हतोत्साह होता है और इसलिये लेखके किसी अंशपरसे यदि कोई भारी भ्रांति अथवा ग़लतफ़हमी भी फैलती हो तो उसे उस समय फैलने दिया जाय, नोट लगा कर उसके फैलनेमें रुकावट न की जाय—,बादको उसका प्रतिकार किया जाय—अर्थात् कुछ दिन पीछे उस फैली हुई भ्रान्तिको दूर करनेका प्रयत्न किया जाय। इसका स्पष्ट आशय यह होता है कि यदि कोई मनुष्य बेखबरीके कारण कुएँमें गिरनेके सन्मुख हो अथवा उसके गिरनेकी भारी सम्भावना हो तो उसे सावधान करके गिरनेसे न रोका जाय, बल्कि गिरने दिया जाय और बादको उसके उद्धारका प्रयत्न किया जाय! मुझे तो हतोत्साह न होने देनेके खयालसे अपनाई गई यह नीति बड़ी ही विचित्र तथा बेढंगी मालूम होती है और इसमें कुछ भी नैतिकता प्रतीत नहीं होती। इस तरह तो कभी कभी उस मनुष्यके उद्धारका अवसर भी नहीं रहता जिसके उद्धारकी बात बादमें की जानेको होती है, और गिरनेसे उद्धारके वक्त तक गिरने वालेको जोहानि उठानी पड़ती है तथा बादको उद्धारकार्यमें अपेक्षाकृत जो भारी परिश्रम करना पड़ता है वह सब अलग रह जाता है। मेरी दृष्टिमें तो यह देखते और जानते हुए कि किसी अन्धे अथवा बेख़बर मनुष्यके रास्तेमें कुँआ या खड्ड है और यदि उसे शीघ्र सावधान न किया गया तो वह उसमें गिरने ही वाला है, समय तथा शक्तिके पासमें होते हुए भी, उसे सावधान न करके चुप बैठे रहना एक प्रकारका अपराध है, इसीलिये मैं इस नीतिको पसन्द नहीं करता। मेरे विचारसे ऐसा करना सम्पादकीय कर्तव्य से च्युत होनेके बराबर है। जिन लेखकोंका ध्येय वास्तवमें सत्यका निर्णय है और जो इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये हृदयसे विद्वानोंको विचारके लिये आमन्त्रित करते हैं, उनके लिये ऐसी अनुसन्धान-प्रधान टिप्पणियाँ हतोत्साहके लिये कोई कारण नहीं हो सकतीं। वे उनका अभिनन्दन करते तथा उनसे समुचित शिक्षा ग्रहण करते हुए अपनी लेखनीको आगेके लिये और अधिक सावधान बनाते हैं, और इस तरह अपने जीवनमें बहुत कुछ सफलता प्राप्त करते हैं। परन्तु जिन लेखकोंका उक्त ध्येय ही नहीं है, जो यों ही अपनी मान्यताको दूसरों पर लादना चाहते हैं और विचारकका अभिनय करते हैं,उनका ऐसी मार्मिक टिप्पणियोंसे हतोत्साह होना स्वाभाविक है,और इसलिये उसकी ऐसी विशेष पर्वाह भी न की जानी चाहिये। अस्तु।

अब मैं प्रो० साहबकी उस समीक्षाकी परीक्षा करता हूँ जो उन्होंने उक्त 'सम्पादकीय विचारणा' पर लिखी है, और उसके द्वारा यह बतला देना चाहता हूँ कि वह कहाँ तक निःसार है। (अगली किरणमें समाप्त)

पंडितप्रवर आशाधर

[ले०—श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी]

'धर्मामृत' ग्रन्थके कर्ता पण्डित आशाधर एक बहुत बड़े विद्वान हो गये हैं। मेरे खयालमें दिगम्बर सम्प्रदायमें उनके बाद उन-जैसा बहुश्रुत, प्रतिभाशाली, प्रौढ़ ग्रन्थकर्ता और जैनधर्मका उद्योतक दूसरा नहीं हुआ। न्याय, व्याकरण, काव्य, अलंकार, शब्दकोश, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र, वैद्यक आदि विविध विषयों पर उनका असाधारण अधिकार था। इन सभी विषयों पर उनकी अस्खलित लेखनी चली है और अनेक विद्वानोंने चिरकाल तक उनके निकट अध्ययन किया है।

उनकी प्रतिभा और पाण्डित्य केवल जैनशास्त्रों तक ही सीमित नहीं था, इतर शास्त्रोंमें भी उनकी अबाध गति थी। इसीलिए उनकी रचनाओंमें यथास्थान सभी शास्त्रोंके प्रचुर उद्धरण दिखाई पड़ते हैं और इसीकारण अष्टांगहृदय, काव्यालंकार, अमरकोश जैसे ग्रंथों पर टीका लिखनेके लिए वे समर्थ होसके। यदि वे केवल जैनधर्मके ही विद्वान् होते तो मालव-नरेश अर्जुनवर्माके गुरू बालसरस्वती महाकवि मदन उनके निकट काव्यशास्त्रका अध्ययन न करते और विन्ध्यवर्माके संधिविग्रह-मन्त्री कवीश बिल्हण उनकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा न करते। इतना बड़ा सन्मान केवल साम्प्रदायिक विद्वानोंको नहीं मिला करता। वे केवल अपने अनुयायियोंमें ही चमकते हैं, दूसरों तक उनके ज्ञानका प्रकाश नहीं पहुँच पाता।

उनका जैनधर्मका अध्ययन भी बहुत विशाल था। उनके ग्रन्थोंसे पता चलता है कि अपने समय के तमाम उपलब्ध जैनसाहित्यका उन्होंने अवगाहन किया था। विविध आचार्यों और विद्वानों के मत-भेदोंका सामंजस्य स्थापित करनेके लिए उन्होंने जो प्रयत्न किया है वह अपूर्व है। वे 'आर्षं संदधीत न तु विघटयेत' के माननेवाले थे, इसलिए उन्होंने अपना कोई स्वतन्त्र मत तो कहीं प्रतिपादित नहीं किया है; परन्तु तमाम मतभेदोंको उपस्थित करके उनकी विशद चर्चा की है और फिर उनके बीच किस तरह एकता स्थापित होसकती है, सो बतलाया है।

पंडित आशाधर गृहस्थ थे, मुनि नहीं। पिछले जीवनमें वे संसारसे उपरत अवश्य हो गये थे, परन्तु उसे छोड़ा नहीं था, फिर भी पीछेके ग्रन्थकर्ताओंने उन्हें सूरि और आचार्यकल्प कहकर स्मरण किया है और तत्कालीन भट्टारकों और मुनियोंने तो उनके निकट विद्याध्ययन करनेमें भी कोई संकोच नहीं किया है। इतना ही नहीं मुनि उदयसेनने उन्हें 'नय-विश्वचक्षु' और 'कलिकालिदास' और मदनकीर्ति यतिपतिने 'प्रज्ञापुंज' कहकर अभिनन्दित किया था। वादीन्द्र विशालकीर्तिको उन्होंने न्यायशास्त्र और भट्टारकदेव विनयचन्द्रको धर्मशास्त्र पढ़ाया था। इन सब बातोंसे स्पष्ट होता है कि वे अपने समयके अद्वितीय विद्वान् थे।

उन्होंने अपनी प्रशस्तिमें अपने लिए लिखा है कि 'जिनधर्मोदयार्थं यो नलकच्छपुरेऽवसत्' अर्थात् जो जैनधर्मके उदयके लिए धारानगरीको छोड़कर नलकच्छपुर (नालछा) में आकर रहने लगा। उस समय धारानगरी विद्याका केन्द्र बनी हुई थी। वहाँ भोजदेव, विन्ध्यवर्मा, अर्जुनवर्मा जैसे विद्वान् और विद्वानोंका सन्मान करने वाले राजा एकके बाद एक हो रहे थे। महाकवि मदनकी 'पारिजात-मञ्जरी' के अनुसार उस समय विशाल धारानगरीमें ८४ चौराहे थे और वहाँ नाना दिशाओंसे आये हुए विविध विद्याओंके पण्डितों और कला-कोविदोंकी भीड़ लगी रहती थी*। वहाँ 'शारदा-सदन' नामका एक दूर दूर तक ख्याति पाया हुआ विद्यापीठ था। स्वयं आशाधरजीने धारामें ही व्याकरण और न्यायशास्त्रका अध्ययन किया था। ऐसी धाराको भी जिस पर हर एक विद्वान्को मोह होना चाहिये पण्डित आशाधरजीने जैनधर्मके ज्ञानको लुप्त होते देखकर उसके उदयके लिए छोड़ दिया और अपना सारा जीवन इसी कार्यमें लगा दिया।

वे लगभग ३५ वर्षके लम्बे समयतक नालछामें ही रहे और वहांके नेमि-चैत्यालयमें एकनिष्ठतासे जैनसाहित्यकी सेवा और ज्ञानकी उपासना करते रहे। उनके प्रायः सभी ग्रन्थोंकी रचना नालछाके उक्त नेमि-चैत्यालयमें ही हुई है और वहीं वे अध्ययन अध्यापनका कार्य करते रहे हैं। कोई आश्चर्य नहीं, जो उन्हें धाराके 'शारदा-सदन' के अनुकरण पर ही जैनधर्मके उदयकी कामनासे श्रावक-संकुल नालछेके उक्त चैत्यालयको अपना विद्यालय बनानेकी भावना उत्पन्न हुई हो। जैन-धर्मके उद्धारकी भावना उनमें प्रबल थी।

ऐसा मालूम होता है कि गृहस्थ रह कर भी कमसे कम 'जिनसहस्रनाम' की रचनाके समय वे संसार-देहभोगोंसे उदासीन हो गये थे और उनका मोहावेश शिथिल हो गया था†। हो सकता है कि उन्होंने गृहस्थकी कोई उच्च प्रतिमा धारण कर ली हो, परन्तु मुनिवेश तो उन्होंने धारण नहीं किया था, यह निश्चय है। हमारी समझमें मुनि होकर वे इतना उपकार शायद ही कर सकते जितना कि गृहस्थ रह कर ही कर गये हैं।

अपने समयके तपोधन या मुनि नामधारी लोगोंके प्रति उनको कोई श्रद्धा नहीं थी, बल्कि एक तरहकी वितृष्णा थी और उन्हें वे जिनशासनको मलिन करनेवाला समझते थे, जिसको कि उन्होंने धर्मामृतमें एक पुरातन श्लोकको उद्धृत करके व्यक्त किया है—

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैः बठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्॥

पण्डितजी मूलमें मांडलगढ़ (मेवाड़) के रहने वाले थे। शहाबुद्दीन गोरीके आक्रमणोंसे त्रस्त होकर अपने चारित्रकी रक्षाके लिए वे मालवाकी

---

*चतुरशीतिचतुष्पथसुरसदनप्रधाने ··· सकलदिगन्तरोपगतानेकत्रैविद्यसहृदयकलाकोविदरसिकसुकविसंकुले ···
—पारिजातमंजरी

† प्रभो भवाङ्गभोगेषु निर्विण्णो दुःखभीरुकः।
एष विज्ञापयामि त्वां शरण्यं करुणार्णवम्॥ १॥
अद्य मोहग्रहावेशशैथिल्यात्किञ्चिदुन्मुखः।
—जिनसहस्रनाम

राजधानी धारामें बहुत-से लोगोंके साथ आकर बस गये थे। वे व्याघ्रेरवाल या बघेरवाल जातिके थे जो राजपूतानेकी एक प्रसिद्ध वैश्यजाति है।

उनके पिताका नाम सल्लक्षण, माताका श्रीरत्नी, पत्नीका सरस्वती और पुत्रका छाहड़ था। इन चारके सिवाय उनके परिवारमें और कौन कौन थे, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

मालव-नरेश अर्जुनवर्मदेवका भाद्रपद सुदी१५ बुधवार सं० १२७२ का एक दानपत्र मिला है, जिसके अन्तमें लिखा है--"रचितमिदं महासान्धि० राजा सलखणसंमतेन राजगुरुणा मदनेन‡। अर्थात् यह दानपत्र महासान्धिविग्रहिक मंत्री राजा सलखणकी सम्मतिसे राजगुरु मदनने रचा। इन्हीं अर्जुनवर्माके राज्यमें पं० आशाधर नालछामें जाकर रहे थे और ये राजगुरू मदन भी वही हैं जिन्हें पं० आशाधरजीने काव्य-शास्त्रकी शिक्षा दी थी। इससे अनुमान होता है कि उक्त राजा सलखण ही संभव है कि आशाधरजीके पिता सल्लक्षण हों।

जिस समय यह परिवार धारामें आया था उस समय विन्ध्यवर्माके सन्धि-विग्रहके मंत्री (परराष्ट्रसचिव) विल्हण कवीश थे। उनके बाद कोई आश्चर्य नहीं जो अपनी योग्यताके कारण सलक्षणने भी वह पद प्राप्त कर लिया हो और सम्मानसूचक राजाकी उपाधि भी उन्हें मिली हो। पण्डित आशाधरजीने 'अध्यात्म-रहस्य' नामका ग्रन्थ अपने पिताकी आज्ञासे निर्माण किया था। यह ग्रन्थ वि० सं० १२९६ के बाद किसी समय बना होगा। क्योंकि इसका उल्लेख सं० १३०० में बनी हुई अनगारधर्मामृतटीकाकी प्रशस्तिमें है, १२९६ में बने हुए जिनयज्ञकल्पमें नहीं है। यदि यह सही है तो मानना होगा कि आशाधरजीके पिता १२९६ के बाद भी कुछ समय तक जीवित रहे होंगे और उस समय वे बहुत ही वृद्ध होंगे। सम्भव है कि उस समय उन्होंने राज-कार्य भी छोड़ दिया हो।

पण्डित आशाधरजीने अपनी प्रशस्तिमें अपने पुत्र छाहड़को एक विशेषण दिया है, "रंजितार्जुन-भूपतिः" अर्थात् जिसने राजा अर्जुनवर्माको प्रसन्न किया। इससे हम अनुमान करते हैं कि राजा सलखणके समान उनके पोते छाहड़को भी अर्जुन-वर्मदेवने कोई राज्य-पद दिया होगा। अक्सर राजकर्मचारियोंके वंशजोंको एकके बाद एक राज्य-कार्य मिलते रहते हैं। पं० आशाधरजी भी कोई राज्य पद पा सकते थे परन्तु उन्होंने उसकी अपेक्षा जिनधर्मोदयके कार्यमें लग जाना ज्यादा कल्याण-कारी समझा।

उनके पिता और पुत्रके इस सन्मानसे स्पष्ट होता है कि एक सुसंस्कृत और राज्यमान्य कुलमें उनका जन्म हुआ था और इसलिए भी बाल-सरस्वती मदनोपाध्याय जैसे लोगोंने उनका शिष्यत्व स्वीकार करनेमें संकोच न किया होगा।

वि० सं० १२४९ के लगभग जब शहाबुद्दीन गोरीने पृथ्वीराजको क़ैद करके दिल्लीको अपनी राजधानी बनाया था और उसी समय उसने अजमेर पर भी अधिकार किया था, तभी पण्डित आशाधर मांडलगढ़ छोड़कर धारामें आये होंगे। उस समय वे किशोर होंगे, क्योंकि उन्होंने व्याकरण और न्यायशास्त्र वहीं आकर पढ़ा था।

‡ अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटीका जर्नल वा० ७ और प्राचीन लेखमाला भाग १ पृ० ६-७।

यदि उस समय उनकी उम्र १५-१६ वर्षकी रही हो तो इनका जन्म वि० सं० १२३५ के आसपास हुआ होगा। उनका अन्तिम उपलब्ध ग्रन्थ (अनगार-धर्म-टीका) वि० सं० १३०० का है। उसके बाद वे और कब तक जीवित रहे, यह पता नहीं। फिर भी निदान ६५ वर्षकी उम्र तो उन्होंने अवश्य पाई थी और उनके पिता तो उनसे भी अधिक दीर्घजीवि रहे।

अपने समयमें उन्होंने धाराके सिंहासन पर पाँच राजाओंको देखा—

समकालीन राजा

१ विन्ध्यवर्मा—जिस समयमें वे धारामें आये उस समय यही राजा थे। ये बड़े वीर और विद्यारसिक थे। कुछ विद्वानोंने इनका समय वि० सं० १२१७ से १२३७ तक माना है। परन्तु हमारी समझमें वे १२४९ तक अवश्य ही राज्यासीन रहे हैं जब कि शहाबुद्दीन ग़ोरीके त्राससे पण्डित आशाधरका परिवार धारामें आया था। अपनी प्रशस्तिमें इसका उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है।

२ सुभटवर्मा—यह विन्ध्यवर्माका पुत्र था और बड़ा वीर था। इसे सोहड़ भी कहते हैं। इसका राज्यकाल वि० सं १२३७ से १२६७ तक माना जाता है। परन्तु वह १२४९ के बाद १२६७ तक होना चाहिए। पण्डित आशाधरके उपलब्ध ग्रन्थ में इस राजाका कोई उल्लेख नहीं है।

३ अर्जुनवर्मा—यह सुभटवर्माका पुत्र था और बड़ा विद्वान् कवि और गान-विद्यामें निपुण था। इसकी 'अमरुशतक' पर 'रससंजीविनी' नामकी टीका बहुत प्रसिद्ध है जो इसके पांडित्य और काव्यमर्मज्ञताको प्रकट करती है। इसीके समयमें महाकवि मदनकी 'पारिजातमंजरी' नाटिका बसन्तोत्सवके मौके पर खेली गई थी। इसीके राज्य-कालमें पं० आशाधर नालछामें जाकर रहे थे। इसके समयमें तीन दान-पत्र मिले हैं। एक माडूमें वि०सं०१२६७ का, दूसरा भरोंचमें १२७० का और तीसरा मान्धातामें १२७२ का। इसने गुजरातनरेश जयसिंहको हराया था।

४ देवपाल—अर्जुनवर्माके निस्संतान मरने पर यह गद्दी पर बैठा। † इसकी उपाधि साहसमल्ल थी। इसके समयके सं० १२७५, १२८६ और १२८९ के तीन शिलालेख और १२८२ का एक दानपत्र मिला है। इसीके राज्यकालमें वि० सं० १२८५ में जिनयज्ञ-कल्पकी रचना हुई थी।

५ जैतुगिदेव—(जयसिंह द्वितीय) यह देवपाल का पुत्र था। इसके समयके १३१२ और १३१४ के दो शिलालेल मिले हैं। पं० आशाधरने इसीके राज्य-कालमें १२९२ में त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र १२९६ में सागारधर्मामृत-टीका और १३०० में अनगारधर्मामृत-टीका लिखी।

ग्रन्थ-रचना

वि० सं० १३०० तक पं०आशाधरजीने जितने ग्रन्थोंकी रचना की उनका विवरण नीचे दिया जाता है—

१ प्रमेयरत्नाकर—इसे स्याद्वाद विद्याका निर्मल प्रसाद बतलाया है। यह गद्य ग्रन्थ है और बीच

† विन्ध्यवर्मा जिसकी गद्दीपर बैठा था, उस अजयवर्माके भाई लक्ष्मीवर्माका यह पौत्र था।

बीचमें इसमें सुन्दर पद्य भी प्रयुक्त हुए हैं। अभी तक यह कहीं प्राप्त नहीं हुआ है।

२ भरतेश्वराभ्युदय—यह सिद्धयङ्क है। अर्थात् इसके प्रत्येक सर्गके अन्तिम वृत्तमें 'सिद्धि' शब्द आया है। यह स्वोपज्ञ टीका सहित है। इसमें प्रथम तीर्थंकरके पुत्र भरतके अभ्युदयका वर्णन होगा। सम्भवतः महाकाव्य है। यह भी अप्राप्य है।

३ ज्ञानदीपिका—यह धर्मामृत (सागार-अनगार)की स्वोपज्ञ पंजिका टीका है। कोल्हापुरके जैन मठमें इसकी एक कनड़ी प्रति थी, जिसका उपयोग स्व० पं० कल्लापा भरमाप्पा निटवेने सागारधर्मामृतकी मराठी टीकामें किया था और उसमें टिप्पणीके तौर पर उसका अधिकांश छपाया था। उसी के आधारसे माणिकचन्द—ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित सागारधर्मामृत सटीकमें उसकी अधिकाँश टिप्पणियाँ दे दी गई थीं। उसके बाद निटवेजीसे मालूम हुआ था कि उक्त कनडी प्रति जलकर नष्ट हो गई! अन्यत्र किसी भण्डारमें अभी तक इस पंजिकाका पता नहीं लगा।

४ राजीमती विप्रलंभ—यह एक खण्डकाव्य है और स्वोपज्ञटीकासहित है। इसमें राजमतीके नेमिनाथ—वियोगका कथानक है। यह भी अप्राप्य है।

५ अध्यात्म-रहस्य—योगाभ्यासका आरम्भ करने वालोंके लिये यह बहुत ही सुगमयोगशास्त्रका ग्रंथ है। इसे उन्होंने अपने पिताके आदेशसे लिखा था। यह भी अप्राप्य है।

६ मूलाराधना-टीका—यह शिवार्यकी प्राकृत भगवती आराधनाकी टीका है जो कुछ समय पहले शोलापुरसे अपराजितसूरि और अमितगति की टीकाओंके साथ प्रकाशित हो चुकी है। जिस प्रति परसे वह प्रकाशित हुई है उसके अन्तके कुछ पृष्ठ खो गये हैं जिनमें पूरी प्रशस्ति रही होगी।

इष्टोपदेश टीका—आचार्य पूज्यपादके सुप्रसिद्ध ग्रन्थकी यह टीका माणिकचन्द-जैन-ग्रन्थमालाके तत्त्वानुशासनादि-संग्रहमें प्रकाशित हो चुकी है।

८ भूपालचतुर्विंशतिका-टीका—भूपालकविके प्रसिद्ध स्तोत्रकी यह टीका अभी तक नहीं मिली।

९ आराधनासार टीका—यह आचार्य देवसेनके आराधनासार नामक प्राकृत ग्रन्थकी टीका है।

१० अमरकोष टीका—सुप्रसिद्ध कोषकी टीका। अप्राप्य।

११ क्रियाकलाप—बम्बईके ऐ० पन्नालाल सरस्वती-भवनमें इस ग्रंथकी एक नई लिखी हुई अशुद्ध प्रति है, जिसमें ५२ पत्र हैं, और जो १९७६ श्लोक प्रमाण है। यह ग्रन्थ प्रभाचन्द्राचार्यके क्रियाकलापके ढंगका है। ग्रंथमें अन्त-प्रशस्ति नहीं है। प्रारम्भके दो पद्य ये हैं—

जिनेन्द्रमुन्मूलितकर्मबन्धं प्रणम्य सन्मार्गकृतस्वरूपं।
अनन्तबोधादिभवं गुणौघं क्रियाकलापं प्रकटं प्रवक्ष्ये ॥१॥
योगिध्यानैकगम्यः परमविशदट्टग्विश्वरूपः सतत्व।
स्वान्तस्थे मैव साध्यं तदमलमतयस्तत्पदध्यानबीजं,
चित्तस्थैर्यं विधातुं तदनवगुणग्राममगाढामरागं,
तत्पूजाकर्म कर्मच्छिदुरमति यथा तंत्रमासूत्रयन्तु ॥ २ ॥

१२ काव्यालंकार टीका—अलंकारशास्त्रके सुप्रसिद्ध आचार्य रुद्रटके काव्यालंकार पर यह टीका लिखी गई है। अप्राप्य।

१३ सहस्रनामस्तवन-सटीक—पण्डित आशाधर का सहस्रनाम स्तोत्र सर्वत्र सुलभ है। छप भी

चुका है। परन्तु उसकी स्वोपज्ञ टीका अभी तक अप्राप्य है। बम्बईके सरस्वती भवनमें इस सहस्र-नामकी एक टीका है परन्तु वह श्रुतसागरसूरिकृत है।

१४जिनयज्ञकल्प-सटीक—जिनयज्ञकल्पका दूसरा नाम प्रतिष्ठासारोद्धार है। यह मूल मात्र तो पंडित मनोहरलालजी शास्त्री द्वारा सं० १९७२ में प्रकाशित हो चुका है। परन्तु इसकी स्वोपज्ञ टीका अप्राप्य है। इस ग्रंथको पण्डितजीने अपने धर्मामृतशास्त्रका एक अंग बतलाया है।

१५ त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र-सटीक—यह ग्रंथ कुछ समय पूर्व माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालामें मराठी अनुवादसहित प्रकाशित हो चुका है। संस्कृत टीकाके अंश टिप्पणीके तौरपर नीचे दे दिये गये हैं।

नित्यमहोद्योत—यह स्नानशास्त्र या जिनाभिषेक अभी कुछ समय पहले पण्डित पन्नालालजी सोनी-द्वारा संपादित "अभिषेकपाठ-संग्रह" में श्रीश्रुतसागरसूरिकी संस्कृतटीकासहित प्रकाशित हो चुका है।

१७ रत्नत्रय-विधान—यह ग्रंथ बम्बईके ऐ० प० सरस्वती-भवनमें है। छोटासा ८ पत्रोंका ग्रंथ है। इसका मंगलाचरण—

श्रीवर्द्धमानमानम्य गौतमादींश्च सद्गुरून्।
रत्नत्रयविधिं वक्ष्ये यथाम्नायां विमुक्तये ॥

१८ अष्टांगहृदयोद्योतिनी टीका—यह आयुर्वेदाचार्य वाग्भटके सुप्रसिद्ध ग्रंथ वाग्भट या अष्टांगहृदयकी टीका है और अप्राप्य है।

१९—२० सागार और अनगार-धर्मामृतकी भव्य-कुमुदचन्द्रिका टीका—माणिकचन्द्रग्रन्थमालामें सागार और अनगार दोनोंकी टीका पृथक् पृथक् दो जिल्दोंमें प्रकाशित हो चुकी है। *

इन २० ग्रन्थोंमेंसे मूलाराधना-टीका, इष्टोपदेश टीका, सहस्रनाम मूल (टीका नहीं), जिनयज्ञकल्प मूल (टीका नहीं), त्रिषष्टिस्मृति, धर्मामृतके सागार अनगार भागोंकी भव्य-कुमुदचन्द्रिकाटीका और नित्यमहोद्योत मूल (टीका नहीं) ये ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और क्रियाकलाप उपलब्ध है। भरताभ्युदय, और प्रमेयरत्नाकरके नाम सोनागिरके भट्टारकजीके भण्डारकी सूचीमें अबसे लगभग २८ वर्ष पहले मैंने देखे थे। संभव है वे वहांके भण्डारोंमें हों। शेष ग्रन्थोंकी खोज होनी चाहिए। हमारे खयालमें आशाधरजीका साहित्य नष्ट नहीं हुआ है। प्रयत्न करनेसे वह मिल सकता है।

रचनाका समय

पहले लिखा जा चुका है कि पण्डित आशाधरजीकी एक ही प्रशस्ति है जो कुछ पद्योंकी न्यूनाधिकताके साथ उनके तीन मुख्य ग्रंथोंमें मिलती है।

जिनयज्ञकल्प वि० सं० १२८५ में, सागार-

*'आशाधरविरचित पूजापाठ' नामसे लगभग चारसौ पेजका एक ग्रन्थ श्री नेमीशा आदप्पा उपाध्ये, उदगांव (कोल्हापुर) ने कोई २० वर्ष पहले प्रकाशित किया था। परन्तु उसमें आशाधरकी मुश्किलसे दो चार छोटी छोटी रचनायें होंगी, शेष सब दूसरोंकी हैं। और जो हैं वे उनके प्रसिद्ध ग्रंथोंसे ली गई जान पड़ती हैं।

धर्मामृत-टीका १२९६ में और अनगारधर्मामृत-टीका १३०० में समाप्त हुई है । जिनयज्ञकल्पकी प्रशस्तिमें जिन दस ग्रन्थोंके नाम दिये हैं, वे १२८५ के पहले के बने हुए होने चाहिएँ । उसके बाद सागारधर्मामृत-टीकाकी समाप्ति तक अर्थात् १२९६ तक काव्यालंकार-टीका, सटीक सहस्रनाम, सटीक जिनयज्ञकल्प, सटीक त्रिषष्टिस्मृति, और नित्यमहोद्योत ये पाँच ग्रंथ बने । अन्तमें १३०० तक राजीमती-विप्रलम्भ, अध्यात्मरहस्य, रत्नत्रय-विधान और अनगारधर्म-टीकाकी रचना हुई । इस तरहसे मोटे तौरपर ग्रन्थ-रचनाका समय मालूम हो जाता है ।

त्रिषष्टिस्मृतिकी प्रशस्तिसे मालूम होता है कि वह १२९२ में बना है। इष्टोपदेश टीकामें समय नहीं दिया।

सहयोगी विद्वान्

१ पण्डित महावीर—ये वादिराज पदवीसे विभूषित पं० धरसेनके शिष्य थे। पं०आशाधरजी ने धारामें आकर इनसे जैनेन्द्र व्याकरण और जैन न्यायशास्त्र पढ़ा था ।

२ उदयसेन मुनि—जान पड़ता है, ये कोई वयोज्येष्ठ प्रतिष्ठित मुनि थे और कवियोंके सुहृद् थे। इन्होंने पं० आशाधरजीको 'कलि-कालिदास' कहकर अभिनन्दित किया था।

मदनकीर्ति यतिपति—ये उन वादीन्द्र विशाल-के शिष्य थे जिन्होंने पण्डित आशाधरसे न्याय-शास्त्रका परम अस्त्र प्राप्त करके विपक्षियोंको जीता था। मदनकीर्तिके विषयमें राजशेखरसूरिके 'चतुर्विंशति-प्रबन्ध' में जो वि० सं० १४०५ में निर्मित हुआ है और जिसमें प्रायः ऐतिहासिक कथायें दी हैं 'मदनकीर्ति-प्रबन्ध' नामका एक प्रबन्ध है । उसका सारांश यह है कि मदनकीर्ति वादीन्द्र विशालकीर्तिके शिष्य थे। वे बड़े भारी विद्वान थे। चारों दिशाओंके वादियोंको जीतकर उन्होंने 'महाप्रामाणिक-चूड़ामणि' पदवी प्राप्त की थी । एक बार गुरुके निषेध करने पर भी वे दक्षिणा पथको प्रयाण करके कर्नाटकमें पहुँचे। वहाँ विद्वत्प्रिय विजयपुरनरेश कुन्तिभोज उनके पाण्डित्य पर मोहित हो गये और उन्होंने उनसे अपने पूर्वजोंके चरित्र पर एक ग्रन्थ निर्माण करनेको कहा। कुन्तिभोजकी कन्या मदन-मञ्जरी सुलेखिका थी। मदनकीर्ति पद्य-रचना करते जाते थे और मञ्जरी एक पर्देकी आड़में बैठकर उसे लिखती जाती थी।

कुछ समयमें दोनोंके बीच प्रेमका आविर्भाव हुआ और वे एक दूसरेको चाहने लगे। जब राजा को इसका पता लगा तो उसने मदनकीर्तिको बध करनेकी आज्ञा दे दी । परन्तु जब उनके लिए कन्या भी अपनी सहेलियोंके साथ मरनेके लिए तैयार हो गई, तो राजा लाचार हो गया और उसने दोनोंको विवाह-सूत्रमें बाँध दिया । मदन-कीर्ति अन्त तक गृहस्थ ही रहे और विशालकीर्ति द्वारा बार बार पत्रोंसे प्रबुद्ध किये जाने पर भी टससे मस नहीं हुए। यह प्रबन्ध मदनकीर्तिसे कोई सौ वर्ष बाद लिखा गया है। इससे सम्भव है इसमें कुछ अतिशयोक्ति हो अथवा इसका अधिकांश कल्पित ही हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मदनकीर्ति बड़े भारी विद्वान् और प्रतिभाशाली कवि थे । और इसलिये उनके द्वारा की गई आशाधरकी प्रशंसाका बहुत मूल्य है।

श्रीमदनकीर्तिकी बनाई हुई 'शासनचतुस्त्रिंशतिका' नामक ५ पत्रोंकी एक पोथी हमारे पास है। जिसमें मंगलाचरणके एक अनुष्टुप् श्लोकके अतिरिक्त ३४ शार्दूलविक्रीड़ित वृत्त हैं और प्रत्येकके अन्तमें 'दिग्वाससां शासनं' पद है *। यह एक प्रकारका तीर्थक्षेत्रोंका स्तवन है जिसमें पोदनपुर बाहुबलि, श्रीपुर-पार्श्वनाथ, शंख-जिनेश्वर, दक्षिण गोमट्ट नागद्रह-जिन, मेदपाट (मेवाड़) के नागफणी ग्रामके जिन, मालवाके मङ्गलपुरके अभिनन्दन जिन आदिकी स्तुति है ×। मङ्गलपुरवाला पद्य यह है—

श्रीमन्मालवदेशमंगलपुरे म्लेच्छप्रतापागते
भग्ना मूर्तिरथोभियोजितशिराः सम्पूर्णतामायौ ।
यस्योपद्रवनाशिनः कलियुगेऽनेकप्रभावैर्युतः,
स श्रीमानभिनन्दनः स्थिरयतं दिग्वाससां शासनं ॥३४॥

इस मेंजोम्लेच्छोंके प्रतापका आगमन बतलाया है, उससे ये पं० आशाधरजीके ही समकालीन मालूम होते हैं। रचना इनकी प्रौढ़ है। पं० आशाधरजीकी प्रशंसा इन्हींनेकी होगी। अभी तक इनका और कोई ग्रन्थ नहीं मिला है।

४ बिल्हण कवीश—बिल्हण नामके अनेक कवि हो गये हैं। उनमें विद्यापति बिल्हण बहुत प्रसिद्ध हैं, जिनका बनाया हुआ विक्रमांकदेव-चरित है। यह कवि काश्मीरनरेश कलशके राज्यकालमें वि० सं० ११९९ के लगभग काश्मीरसे चला था और जिस समय वह धारामें पहुँचा उस समय भोजदेव की मृत्यु हो चुकी थी। इससे वे आशाधरके प्रशंसक नहीं हो सकते। भोजकी पांचवीं पीढ़ीके राजा विन्ध्यवर्माके मंत्री बिल्हण उनसे बहुत पीछे हुए हैं। चौर-पंचासिका या बिल्हण-चरितका कर्ता बिल्हण भी इनसे भिन्न था। क्योंकि उसमें जिस वैरिसिंह राजाकी कन्या शशिकलाके साथ बिल्हणका प्रेम सम्बन्ध वर्णित है वह वि० सं० ९०० के लगभग हुआ है। शार्ङ्गधर पद्धति, सूक्तमुक्तावली आदि सुभाषित-संग्रहोंमें बिल्हण कविके नामसे बहुतसे ऐसे श्लोक मिलते हैं जो न विद्यापति बिल्हणके विक्रमांकदेवचरित और कर्णसुन्दरी नाटिकामें हैं और न चौर-पंचासिकामें। क्या आश्चर्य है जो वे इन्हीं मंत्रिवर बिल्हण कविके हों।

मांडूमें मिले हुए विन्ध्यवर्माके लेखमें इन बिल्हणका इन शब्दोंमें उल्लेख किया है-"विन्ध्यवर्मनृपते: प्रसादभूः। सान्धिविग्रहकबिल्हणःकवि।" अर्थात् बिल्हण कवि विन्ध्यवर्माका कृपापात्र और परराष्ट्र सचिव था।

५-पं० देवचन्द्र—इन्हें पण्डित आशाधरजीने व्याकरण-शास्त्रमें पारंगत किया था।

६-वादीन्द्र विशालकीर्ति—ये पूर्वोक्त मदनकीर्ति के गुरू थे। ये बड़े भारी वादी थे और इन्हें पण्डितजीने न्यायशास्त्र पढ़ाया था। सम्भव है, ये धारा या उज्जैनकी गद्दीके भट्टारक हों।

(आगामी किरणमें समाप्त)

---

* इस प्रतिमें लिखनेका समय नहीं दिया है परन्तु दो तीनसौ वर्षसे कम पुरानी नहीं मालूम होती। जगह जगह अक्षर उड़ गये हैं जिसमें बहुतसे पद्य पूरे नहीं पढ़े जाते।

× श्रीजिनप्रभसूरिके 'विविध-तीर्थकल्प' में 'अवन्ति देशस्थ अभिनन्दनदेवकल्प' नामका एक कल्प है जिसमें अभिनन्दनजिनकी भग्न मूर्तिके जुड़ जाने और अतिशय प्रकट होनेकी कथा दी है।

क्रान्तिकारी ऐतिहासिक पुस्तकें

[ले० अयोध्याप्रसाद गोयलीय]

१. राजपूतानेके जैनवीर—

पढ़नेके लिये हाथ भरके कलेजेकी जरूरत है। मर्दोंकी बात जाने दीजिये भीरु और कायर भी इसे पढ़ते पढ़ते मूँछों पर ताव न देने लगें तो हमारा जिम्मा। राजपूतानेमें जैनवीरोंकी तलवार कैसी चमकी ? जैनवीरोंने सरसे कफन बान्धकर आततायियोंके घुटने क्योंकर टिकवाये। धर्म और देशके लिये कैसे कैसे अभूतपूर्व बलिदान किये, यही सब रोमांचकारी ऐतिहासिक विवरण ३५२ पृष्ठोंमें पढ़िये। सचित्र, मूल्य केवल दो रुपया।

२. मौर्य-साम्राज्यके जैनवीर—

भूमिका-लेखक साहित्याचार्य प्रो० विश्वेश्वरनाथ रेउके शब्दोंमें—"इस पुस्तककी भाषा मनको फड़काने वाली, युक्तियाँ सप्रमाण और ग्राह्य तथा विचारशैली साम्प्रदायिकतासे रहित समयोपयोगी और उच्च है। हमें पूर्ण विश्वास है कि इसे एक बार आद्योपान्त पढ़ लेनेसे केवल जैनोंके ही नहीं प्रत्युत भारतवासी मात्रके हृतपटपर अपने देशके अतीत गौरवके एक अंशका चित्र अंकित हुए बिना न रहेगा। ऐसा कौन अभागा भारतवासी होगा जो अयोध्याप्रसादजी गोयलीयकी लिखी भारतकी क़रीब साढ़े बाईस सौ वर्ष पुरानी इस सारगर्भित और सच्ची गौरव-गाथाको सुनकर उत्सहित न होगा।" पृष्ठ १७३ मू० छह आना।

३. हमारा उत्थान और पतन—

"चान्द"के शब्दोंमें—"इस पुस्तकमें महाभारत से लेकर सन् १२०० ईस्वी तकके भारतीय इतिहास पर एक दृष्टि डाली गई है। भारतवासियोंके चारित्रमें जो त्रुटियां उत्पन्न हो गईं थीं और जिनके कारण उनको विदेशियोंके सन्मुख पदानत होना पड़ा उन पर मार्मिकताके साथ विचार किया गया है। पुस्तक पठनीय है और अत्यन्त सुलभ मूल्यमें बेची जाती है।" "विश्वामित्र" लिखता है—"पुस्तककी भाषा सजीव और दृष्टिकोण सुन्दर है। यह काफ़ी उपयोगी पुस्तक है।" "भारत" कहता है—"लेखककी लेखनीमें ओज और प्रवाह पर्याप्त मात्रामें है।" पृ० १४४ मूल्य छह आना।

स्फूर्तिदायक जीवनज्योति जगाने वाली पुस्तकें

४. अहिंसा और कायरता मू०एक आना	७. क्या जैन समाज ज़िन्दा है ? मू०एक आना
५. हमारी कायरताके कारण " "	८. गौरव-गाथा " "
६. विश्वप्रेम सेवाधर्म " "	९. जैन-समाजका ह्रास क्यों ? " छह पैसा

यदि यह पुस्तकें आपने नहीं देखी हैं तो आज ही मंगाइये, मन्दिरों, पुस्तकालयों साधुओंको भेटस्वरूप दीजिये, उपहारमें बांटिये। जैनेतरोंमें बांटिये।

व्यवस्थापक—हिन्दी विद्यामन्दिर, पो० बो० नं० ४८, न्यू देहली।

Registered. No. L. 4328

श्री जैन प्राचीन साहित्योद्धार ग्रन्थावलीके

जैन मन्त्र-तन्त्र और चित्रकलाके अभूतपूर्व प्रकाशन

भगवन् मल्लिषेणाचार्य विरचित

१. श्री भैरव पद्मावती कल्प

आठ तिरंगे और पचास एक रंगे चित्र और बन्धुषेण विरचित टीका, भाषा समेत साथमें इकतीस परिशिष्टोंमें श्री मल्लिषेण सूरि विरचित सरस्वतीकल्प, श्री इन्द्रनंदी विरचित पद्मावती पूजन, रक्त पद्मावती कल्प, पद्मावती सहस्रनाम, पद्मावत्यष्टक, पद्मावती जयमाला, पद्मावती स्तोत्र, पद्मावती दंडक, पद्मावती पटल वगैरह मंत्रमय कृतियां और गुजरात कालेजके संस्कृत प्राकृत भाषाके अध्यापक प्रो० अभ्यंकर द्वारा सम्पादित होने पर भी मूल्य सिर्फ १५) रुपये रखा गया है।

२. श्री महाप्राभाविक नव स्मरण

पंचपरमेष्ठीमंत्रके चार यंत्र, श्रीभद्रबाहु स्वामी विरचित उपसर्गहर स्तोत्र, उनके अनेक मंत्र, कथा और सत्ताईस यंत्र समेत, श्रीमानतुंगाचार्य विरचित भयहर स्तोत्र उनके अनेक मंत्र तंत्र और २१ यंत्र समेत, श्रीभक्तामरजी स्तोत्र, मंत्राम्नाय, कथाएँ, तंत्र, मंत्र और हरेक काव्य पर दो दो यंत्र कुल ९६ यंत्र समेत और भगवन् सिद्धसेनदिवाकर विरचित श्रीकल्याणमंदिरजी स्तोत्र, उनके मंत्राम्नाय और ४३ यंत्र, चित्र वगैरह मिलाके कुल ४१२ चारसौ बारह यंत्र चित्र दिया हुआ है, एक प्रतिका पांच रतल वजन होने पर भी मूल्य २५) रु० रखा गया है।

३. श्री मंत्राधिराज चिंतामणि

श्रीचिन्तामणिकल्प, श्रीमंत्राधिराज कल्प वगैरह श्री पार्श्वनाथजी भगवानके अनेक मंत्रमय स्तोत्र और ६५ यंत्र समेत मूल्य ७॥) रु०

४. श्री जैन चित्रकल्पद्रुम

गुजरातकी जैनाश्रित चित्रकलाके ग्यारहवीं सदी से लगाकर उन्नीसवीं सदी तकके लाक्षणिक नमूनाओंका प्रतिनिधि संग्रह, जिसमें ३२० पूर्ण रंगी और एक रंगी चित्र हैं, साथमें जैनाश्रित चित्रकलाके विषयमें अमेरिकाके प्रो० ब्राउनने, बड़ोदरा राज्यके पुरातत्वखातेका मुख्याधिकारी डा० हीरानन्द शास्त्रीजीने, गुजरातके सुप्रसिद्ध चित्रकार रविशंकर रावलने, रसिकलाल परीख, श्रीयुत साराभाई नवाब, प्रो० डोलरराय मांकड़, प्रो० मंजुलाल मजमुदार और लेखनकलाके विषयमें विद्वद्वर्य मुनिश्री पुण्यविजयीके विद्वतापूर्ण लेख भी दिया है। यह ग्रन्थस्वर्गस्थ बड़ोदरा नरेश सयाजीराव गायकवाड़को उनके हीरक महोत्सव पर समर्पित किया गया था मूल्य सिर्फ २५) रु०

५. जगत्सुन्दरी प्रयोगमाला मुनि जसवइ विरचित मूल्य ५)

६. श्री घंटाकरण-माणिभद्र-मंत्र-तंत्र कल्पादि संग्रह मूल्य ५)

७. श्रीजैन कल्पलता चित्र ६१ मूल्य ८)

८. भारतीय जैन श्रमण संस्कृति और लेखन कला मूल्य ८)

दूसरे प्रकाशनोंके लिये सूचीपत्र मंगवाइये।

प्राप्तिस्थान:—साराभाई मणिलाल नवाब, नागजीभूदरनी पोल, अहमदाबाद

वीर प्रेस आफ इण्डिया, कर्नाट सर्कस, न्यू देहली।